महादेवी का विवेचनात्मक गद्य

संकलनकर्त्ता

गंगाप्रसाद-पाण्डेय, एम० ए०

द्वितीय संस्करण—१००० प्रति

अप्रेल, १९५४

मूल्य दो रुपया बारह आना

Printed and Published by K. Mittra, at The
Indian Press, Ltd. Allahabad.

निवेदन

कवि यदि भावनाओं का गायक है तो आलोचक उनका निरीक्षक, इसलिए कवि भाव-प्रधान और आलोचक विचार-प्रधान होता है। शुभ-श्री महादेवीजी ने साहित्य के पद्य-गद्य दोनों स्वरूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, यह पाठकों से छिपा नहीं। इस पुस्तक में वे एक आलोचक के रूप में आई हैं, जो उनके कवि तथा विचारक के समुचित सामञ्जस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निष्पक्ष निरूपण इस पुस्तक में जिस परिमार्जित एवं सरस स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। महादेवीजी का एक सङ्केत, एक शब्द और एक वाक्य पाठकों के अन्तःकरण में अनुभूति तथा चिन्तना की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है, ऐसा मेरा विश्वास है। उनके सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, उनके सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, उनकी आत्मानुभूत सिद्धान्तों की प्रतिपादना और उनकी जीवन-दर्शन की व्यापकता से संरक्षित और सञ्चालित उनका आलोचक साहित्यिक अभिप्रायों के उद्बोधन में अद्वितीय है, इसमें सन्देह नहीं। ठीक भी है, जीवन की संयोजना, सौन्दर्य की आराधना तथा साहित्य की साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की आवश्यकता होती है वह महादेवी जैसे कलाकारों की अपनी चीज़ है। सम्भवतः इसी कारण संसार के श्रेष्ठ साहित्य और ज्ञान में कलाकार का व्यक्तित्व मूल की भाँति समाया रहता है। इस पुस्तक में आलोचना के 'टेकनीक' के अतिरिक्त

अन्तस्तल में प्रवेश करनेवाली मार्मिक साहित्यिक सूझ और उसके 'बैकग्राउण्ड' में प्रतिफलित होनेवाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की जो अपूर्व अभिव्यञ्जना हुई है, वह हिन्दी-आलोचना-पद्धति के विकास में एक निश्चित पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होगी। साहित्यिक झुकाव की इसी सात्त्विक प्रगति से प्रेरित होकर मैंने इस पुस्तक को पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया है। आशा है, साहित्यानुरागियों को इससे एक मानसिक तथा हार्दिक तृप्ति मिलेगी।

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

विषय-सूची

काव्य-कला

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रङ्ग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को पाषाण की मूर्त्तिमत्ता, रङ्ग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य में, कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त; इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नहीं सकता, पर हम अपनी आँख के तिल के सामने एक छोटा सा तिनका भी खड़ा करके, उसे इन्द्रजाल के समान ही अपने लिए लुप्त कर सकते हैं। फिर जब तक हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर

एक विशेष स्थिति में, उस विस्तार के साथ रखकर न देखें तब तक हमारे लिए वह क्षितिजव्यापी विस्तार नहीं के बराबर है। केवल तिनका ही हमारी दृष्टि की सीमा को सब ओर से घेरकर विराट् बन जायगा। परन्तु उस तृण-विशेष पर ही नहीं, लता, वृक्ष, खेत. वन आदि सभी खण्डरूपों पर ठहरती हुई हमारी दृष्टि उस विस्तार का ज्ञान करा सकती है। बिना रूपों की सीमा के उस असीम विस्तार का बोध होना कठिन है और विस्तार की व्यापक पीठिका के अभाव में उन रूपों की अनेकात्मकता की अनुभूति सम्भव नहीं। अखण्ड सत्य के साथ हमारी स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही रहती है। उसका जितना अंश हम अपनी सीमा से घेर सकते हैं, उसे ऐसी स्थिति में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में रहकर भी सत्य की व्यापकता में अपनी निश्चित स्थिति बनाये रहे।

व्यक्ति की सीमा में तो सत्य की ऐसी दोहरी स्थिति सहज ही नहीं स्वाभाविक भी है, अन्यथा उसे तत्त्वतः ग्रहण करना सम्भव न हो सकेगा। परन्तु, खण्ड में अखण्ड की इस स्थिति को प्रेषणीय बना लेना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओं की संख्या, लम्बाई चौड़ाई, हल्का भारीपन आदि गणित के अंकों में बाँधे जा सकते हैं, परन्तु रेखा से परिमाण तक व्याप्त सजीवता का परिचय संख्या, मात्रा या तोल से नहीं दिया जा सकता। आकार को ठीक नाप-जोख के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना सहज है, जीवन को सम्पूर्ण अतुलनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही कठिन।

सत्य की व्यापकता में से हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें वह हमारी सीमा में बँधकर व्यष्टिगत हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ सापेक्ष पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमें तोलकर ही उस सत्य का मूल आँकने की इच्छा रखता है। इतना ही नहीं उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, संस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासंगों की उपस्थिति भी सम्भव है; अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नहीं रोकती टोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि सुननेवाला कहाँ कहाँ कहकर उसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में बाँध लेने को व्याकुल हो उठेगा। अब यदि वह हमारी ही स्थिति में, हमारे ही दृष्टिकोण से उसे न देख सके तो वह वस्तु कुछ भिन्न भी लग सकती है और तब विवाद की कभी न टूटनेवाली शृंखला में नित्य नई कड़ियाँ जुड़ने लगेंगी। बाह्य जीवन में तो यह समस्या किसी अंश तक सरल की भी जा सकती है, परन्तु अन्तर्जगत् में इसे सुलझा लेना सदा ही कठिन रहा है।

इस सत्य सम्बन्धी उलझन को सुलझाने के लिए जीवन न ठहर सकता है और न इसे छोड़कर आगे बढ़ सकता है, अतः वह सुलझाता हुआ चलता है। बाह्य जीवन में राजनीति, समाज-शासन, धर्म आदि

इतिवृत्त के समान सत्य का परिचय भर देते चलते हैं। मनुष्य की हठीली जिज्ञासा किसी ग्रन्थि को पकड़कर रुक न जाय, इस भय से उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थि पर अनुग्रह और दण्ड की इतनी चिकनाहट लगा दी है, जिससे हाथ फिसल भर जावे। कहीं महाभाष्य के समान बहुत विस्तार में उलझे हुए और कहीं सूत्रों के समान संक्षिप्त रूप में सुलझे हुए सिद्धान्त कभी सत्य के संग्रहालय जैसे जान पड़ते हैं और कभी अस्त्रागार जैसे, कहीं सत्य की विकलांग मूर्त्तियों का स्मरण करा देते हैं और कहीं अधूरे रेखाचित्रों का; पर व्यापक स्पन्दित सत्य का अभाव नहीं दूर कर पाते। मनुष्य के बाह्य जीवन की निर्धनता देखने के लिए वे सहस्राक्ष बनने पर बाध्य हैं और उसके अन्तर्जगत् के वैभव के लिए धृतराष्ट्र होने पर विवश।

हमारी बुद्धिवृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक अर्धवृत्त में घेर सकती है, परन्तु दूसरा अर्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी। हमारे भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्धों के समान है जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं और अकेले आधा संसार ही घेर सकते हैं। एक ओर का भूखण्ड दूसरे का पूरक बना रहने के लिए ही उसे अन्तर पर रखकर अपनी दृष्टि का विषय नहीं बना पाता; परन्तु इससे दोनों में से किसी की भी स्थिति संदिग्ध नहीं हो जाती।

हमारी बुद्धि और रागात्मिका वृत्ति के दो अर्ध वृत्तों से घिरे सत्य के सम्बन्ध में भी यही सत्य रहेगा। हमारे व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक कार्य सङ्कल्प-विकल्प, कल्पना-स्वप्न, सुख-दुःख आदि की भिन्नवर्णी

कड़ियोंवाली शृंखला के एक सिरे में झूलता रहता है। इस शृंखला की प्रायः सभी कड़ियों की स्थिति अन्तर्जगत् में ही सम्भव है। व्यवहार-जगत् केवल कार्य से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि कार्य के स्थूल ज्ञान से लेकर उसे जन्म देनेवाले सूक्ष्म विचार तक जानती है और हृदय तज्जनित सुख-दुःख से लेकर स्वप्न-कल्पना तक की अनुभूतियाँ सञ्चित करता है। इस प्रकार बाह्य जीवन की सीमा में वामन जैसा लगनेवाला कार्य भी हमारे अन्तर्जगत् की असीमता में बढ़ते बढ़ते विराट् हो सकता है।

बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है। तट पर एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हम असंख्य नई तरङ्गों को सामने आते और पुरानी लहरों को आगे जाते देखकर नदी से परिचित हो जाते हैं। वह किस पर्वतीय उद्गम से निकलकर, कहाँ कहाँ बहती हुई किस समुद्र की अगाध तरलता में विलीन हो जाती है यह प्रत्यक्ष न होने पर भी हमारी अनुभूति में नदी पूर्ण है और रहेगी। जब हम कहते हैं कि 'हमने एक ओर चाँदी की धूल जैसी झिलमिलाती बालू और दूसरी ओर दूर हरीतिमा में तटरेखा बनाती हुई, अथाह नील जल से भरी नदी देखी,' तब सुननेवाला कोई प्रचलित नाप-जोख नहीं माँगता। हमने इतने गज़ प्रवाह नापा है, इतने सौ लहरें गिनी हैं, इतने फ़ीट गहराई नापी है, इतने

सेर पानी तोला है आदि आदि नाप-तोल न बताकर भी हम नदी का ठीक परिचय दूसरे के हृदय तक पहुँचा देते हैं। सुननेवाला उस नदी को ही नहीं उसके शाश्वत सौंदर्य को भी प्रत्यक्ष पाकर एक ऐसे आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ गणित के अंकों में बँधी नाप-जोख के लिए स्थान नहीं।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रहकर भी एक ही पथ से नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिये गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उससे बड़ी रेखा खींचकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके असंख्य उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्थूल सीमा में और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र में एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते हैं। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टिबिन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने से। तीनों ने वस्तुविशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओं में घेर लेंगी। इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के परिचय के लिए ही इस अनेकता को सँभाले रहती है।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट

आत्मीय की अनुभूति में तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और साधारण मित्र में उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है; पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है वे तीनों एक ही रेखा पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे। हाँ जब उनमें से कोई उस दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक धरातल पर रख लेगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हलकी अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धिवृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रखकर देखती है, अतः व्यष्टिगत सीमा में उसका संदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होंगी हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आ सकेगा। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है', तुमने जिसे काला देखा वह नीला है, तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है, आदि आदि कहकर हम दूसरे में, स्वयं उसी के इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति, अविश्वास उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असंख्य बार सुनकर भी कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नहीं करेगा।

जीवन के निश्चित विन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का सन्धिपत्र है जिसके अनुसार बुद्धिवृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रंग-रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है। बाह्य जगत् अनेकरूपात्मक है और उन रूपों का, सुन्दर तथा कुरूप में एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि में आनेवाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे? केवल बाह्य रेखाओं और रंगों का सामञ्जस्य ही सौन्दर्य कहा जावे तो प्रत्येक भूखण्ड का मानव-समाज ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामञ्जस्य की परिभाषा बनाई जावे यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सब कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी

मुहूर्त्त आ उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कलाजगत् से बहिष्कृत नहीं किया जाता। उजले कमलों की चादर जैसी चाँदनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है, पर अँधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक झुक पड़नेवाली लता कोमल है पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकनेवाला ठूँठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पृथ्वी को कँपा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होते रहे परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ में

उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि आदि का जो इन्द्रजाल रहता है उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन सी संज्ञा पा सकेगी! चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है। पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामञ्जस्य-पूर्ण स्थिति में रख रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा में जीवनव्यापी सुख-दुखों की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण सम्बन्धी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होनेवाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़नेवाली कड़ियाँ अस्पष्ट होने लगती हैं।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन के, दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूलभरे प्रत्यक्ष चरणों पर रख दें, परन्तु उन दोनों ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नहीं। उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नहीं। नीचे की पहली सीढ़ी से चढ़कर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं तब उन दोनों की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वयं एक एक तो न वे नीची हैं न ऊँची।

व्यावहारिक जगत् में हमने पहले पहले खाद्य, आच्छादन, छाया आदि की समस्याओं को जिन मूलरूपों में सुलझाया था उन्हें यदि आज के व्यंजन, वस्त्राभूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार में रखकर देखें, तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेंगे। जो बाह्यजगत् में सहज था वह अन्तर्जगत् में भी स्वाभाविक हो गया, अतः उपयोग सम्बन्धी स्थूलता सूक्ष्म होते होते एक रहस्यमय विस्तार में हमारी दृष्टि से ओझल हो गई—और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड़कर दूसरे को अस्तित्वहीन कह-कहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्त्व नहीं रख सकता। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आंकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर बाहर के सभी द्वार खोलना पड़ेंगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती हैं जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़ें; परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता।

किसी का यदा कदा; परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावों की पूर्ति ही पूर्ति है और जिनका अनुभव ऐसा नियमित नहीं वे अभाव ही नहीं ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षों की तुलना में सहानुभूति, स्नेह, सुख-दुःख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान् ठहरते हैं, इसे कौन नहीं जानता! अनेक बार, व्यक्ति के जीवन में एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है। कारण स्पष्ट है। जब कवि, चित्रकार या संयोग के मार्मिक सत्य ने, उस व्यक्ति को, एक क्षणिक कोमल मानसिक स्थिति में, छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के सौन्दर्य-द्वार खोलने में समर्थ हो सके। ऐसे कुछ क्षण युगों से अधिक मूल्यवान् अतः उपयोगी मान लिये जायें तो आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं। परन्तु यह क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नहीं कहे जा सकते! जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल नहीं बन पाता वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जावे! एक बाण-विद्ध क्रौञ्च से प्रभावित ऋषि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं'—कह कर यदि प्रथम श्लोक और आदिकाव्य की रचना में समर्थ हो सका तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को, मनीषी की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्यों न दिया जावे! यदि

एक वैज्ञानिक, फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सका तो उस तुच्छ फल का टूटना, पर्वतों के टूटने से अधिक महत्वपूर्ण क्यों न समझा जावे!

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कसौटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कुछ भी, महत्त्व की परिधि में नहीं आता। परन्तु हमारे इस निष्कर्ष को जीवन तो स्वीकार करे! बुद्धि ने अपनी सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और हृदय ने अपनी परिधि में उसे संवेदनीय। जीवन ने इन दोनों को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असंख्य विभिन्न और ऊँचे नीचे स्तरों में विभाजित कर डाला है। जब इनमें से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते हैं तब हमारा प्रयास अपनी दिशा में गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण गति नहीं देता।

जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकांगी नहीं बना पाती। युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नहीं, परन्तु उस स्थिति में भी जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्रशस्त्र के उपयोग में ही सीमित नहीं हो जाता। मस्तिष्क और हृदय को क्षण भर विश्राम देनेवाले सुख के साधन, प्रिय जनों के स्नेह भरे सन्देश, रक्षणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के सुनहले-रुपहले स्वप्न, अडिग साहस और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि मिलकर ही तो वीर को वीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते हैं।

पौष्टिक भोजन, झिलमिलाते कवच और चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले अस्त्रशस्त्र मात्र वीर-हृदय का निर्माण नहीं करते, उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत् में छिपे रहते हैं। यदि हम अन्तर्जगत् के वैभव को अनुपयोगी सिद्ध करना चाहें तो कवच में यन्त्रचालित काठ के पुतले भी खड़े किये जा सकते हैं, क्योंकि जीवित मनुष्य की तुलना में उनकी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर और उपयोग सहस्त्रगुण अधिक रहेंगे।

उपयोग की ऐसी ही भ्रान्ति पर तो हमारा यन्त्रयुग खड़ा है। परन्तु संसार ने, हँसने रोने थकने मरनेवाले मनुष्य को खोकर जो वीतराग, अथक और अमर देवता पाया है उसने, जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के अतिरिक्त और क्या किया! समाज और राष्ट्र में मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अतः उसके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओं में देखना होगा।

उपयोगिता के प्रश्न के साथ एक कठिनाई और है। जैसे जैसे उपयोग की भूमि ऊँची होती जाती है वैसे वैसे वह प्रत्यक्षता में न्यून और व्यापकता में अधिक होती चलती है। सबसे नीची भूमि जिस अंश तक सापेक्ष है सबसे ऊँची उसी अंश तक निरपेक्ष। उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वास्थ्य, रुचि आदि की अपेक्षा रखता है, परन्तु उससे बना रस, रोगी, स्वस्थ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपयोगी रहेगा। इसी से उपयोग

की प्रत्यक्ष और निम्न भूमि पर जैसी विभिन्नता मिलती है वैसी उन्नत पर अप्रत्यक्ष भूमि पर सहज नहीं।

'दूसरे के दुःख से सहानुभूति रखो' यह सिद्धान्त जब व्यावहारिक जीवन में केवल विधिनिषेध के रूप में आता है तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में इसके प्रयोग के रूप विभिन्न रहते हैं और प्रयोग से छुटकारा देनेवाले तर्क विविध। परन्तु जब यही इतिवृत्त, हमारी भावभूमि पर, हृदय की प्रेरणा बनकर उपस्थित होता है तब न प्रयोगों में इतनी विभिन्नता दिखाई देती है और न तर्क की आवश्यकता रहती है। किसी का दुःख जब हमारे हृदय को स्पर्श कर चुका तब हम उसके और अपने सम्बन्ध को साधारण लौकिक आदान प्रदान की तुला पर तोलने में असमर्थ ही रहेंगे।

यदि हम किसी के दुःख को बँटा लेंगे तो दूसरा भी हमारे दुःख में सहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमें स्मरण रहता है और न हम स्मरण करना चाहेंगे। इसी से महानतम त्यागों के पीछे विधि-निषेधात्मक नैतिकता के संस्कार चाहे रहें, परन्तु स्वयं विधि-निषेध की सतर्क चेतना सम्भव नहीं रहती। *सत्य बोलना उचित है, इस सिद्धान्त* को गणित के नियम के समान रट-रट कर जो सत्य बोलने की शक्ति पाता है वह सच्चा सत्यवादी नहीं। सत्यवादी तो उसे कहेंगे जिसमें, सत्य *बोलना, विधि-निषेध की सीमा* पार कर स्वभाव ही बन चुका है। उपयोग की इस सूक्ष्म पर व्यापक भूमि पर सत्य में जैसी एकता है, स्थूल और संकीर्ण धरातल पर वैसी ही अनेकता; इसी कारण संसार भर के दार्शनिक,

धर्म-संस्थापक, कवि, आदि के सत्य में, देशकाल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत एकता मिलती है।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत, सम-विषम, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियों में समान रूप से व्याप्त है और रहेगा।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध है वे उपयोग की उस उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं जहाँ उपयोग सामान्य रह सके। करुण रागिनी, उपयोग की जिस भूमि पर है, वहाँ वह प्रत्येक श्रोता के हृदय में एक करुण भाव जाग्रत करके ही सफल हो सकेगी, हर्ष या उल्लास का नहीं। व्यक्ति के संस्कार, परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी मात्राओं में न्यूनाधिक्य हो सकता है, परन्तु उसके उपयोग में इतनी विभिन्नता सम्भव नहीं कि एक में हर्ष का सञ्चार हो और दूसरे में विषाद का उद्रेक।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामञ्जस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तर्जगत् में प्रेरणा बननेवाले साधनों की स्थिति, उस बीज के समान है जिसे मिट्टी को, रंग-रूप-रस आदि में व्यक्त होने की सुविधा देने के लिए स्वयं उसके अन्धकार में समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी

को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते हैं। वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा संगी है जो अपनी आत्म-कहानी में, हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वयं चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नहीं किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्रमधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है। अपने अनुभवों की गहराई में, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है उसे दूसरे के लिए संवेदनीय बनाकर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है पर मैंने आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढंग ऐसा है कि हम उसके सुख-दुख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते हैं—दूसरे शब्दों में हम बिना खोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते हैं। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमें अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते हैं परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते हैं, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना सम्भव नहीं। मनु की जीवन-स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही

पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलाङ्ग मूर्त्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघलाकर तर्कसूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की संख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है। अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं। जो सम-विषम परिस्थितियों की भीड़ में नहीं मिल जाता, सरल-कठिन संघर्षों के मेले में नहीं खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रङ्ग-रूपों से बसे हुए आकाश में मिलता है।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदों को जन्म देते रहे हैं। केवल बाह्यजगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं। यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम सीमा पर रखकर देखा जाय तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त में बिखर जायगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओं

में बँध जायगा। ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जावे!

काव्य में गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् में व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान सा अनायास पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है जो ग्रहणशक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्दगुण नहीं व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस संस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देनेवाला सौन्दर्यबोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी करण के अभाव या अपूर्णता में, कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही, आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहनेवाले युग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वतन्त्र ज्ञान रहा।

यह ज्ञान व्यक्तिसामान्य नहीं, यह कहकर हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नहीं। विज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नहीं नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की

सापेक्षता नहीं छोड़ता। व्यक्तिगत रुचि, संस्कार, पूर्वार्जित ज्ञान, ज्ञान-करणों की पूर्णता, अपूर्णता, अभाव आदि मिलकर स्थूल जगत् के ज्ञान को इतनी विविधता देते रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्त्व से ज्ञान का महत्त्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं। जो ऊँचा सुनता है या जो स्टेथेस्कोप की सहायता से फेफड़ों का अस्फुट शब्द मात्र सुनता है वे दोनों ही हमारे स्वर-सामञ्जस्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते। पर जो आहट की ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरों में सामञ्जस्य लाने की साधना भी कर चुका है वही इस दिशा में हमारा प्रमाण है।

समाज, नीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नहीं सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियों को प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है। अतः अध्यात्म के सम्बन्ध में ही ऐसा तर्कवाद क्यों महत्त्व रखेगा! फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विच्छिन्न भी नहीं जितना समझा जाता है। साधारणतः तो प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इस ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त निःस्तब्धता के साथ आँधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियों की सीमाएँ पार कर लेने के लिए विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य-कारण से नहीं बाँधा जा सकता, स्थूलता के एकान्त उपासक के पास भी बहुत कुछ शेष रह जाता है जो उपयोग की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। और यदि केवल संख्या ही महत्त्व रखती हो तो संसार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले यह स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक सी स्थिति नहीं पा सकती। अपने संस्कार, रुचि, संवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल से तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा और कोई उदासीन दर्शक मात्र रह जायगा। स्थूल जगत् के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित कर सकता है। जिसने अंगारे उठा उठा कर हाथ को कठोर कर लिया है उसकी उँगलियाँ अंगारे पर पड़ कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेंगी, पर जिसका हाथ अचानक अंगारे पर पड़ गया है उसे छाले का तीव्र मर्मानुभव करना पड़ेगा। जिसने काँटों पर लेटने का अभ्यास कर लिया है उसके शरीर में अनेक काँटों का स्पर्श तीव्र व्यथा नहीं उत्पन्न करता, पर जो चलते चलते अचानक काँटे पर पैर रख देता है उसके लिए एक काँटा ही तीव्र दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब खण्डशः अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा व्यापक अखण्ड और संवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर सारी विविधताएँ ठहर सकती हैं। काव्य इसी को स्पर्श कर संवेदनीयता प्राप्त करता है। इसी कारण जिन सुखदुखों की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तीव्र अनुभूति नहीं देती उन्हीं की काव्य-स्थिति से साक्षात् कर हम अस्थिर हो उठते हैं।

व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं किसी कर्म के सौन्दर्य और सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसी से मनुष्य ऐसे कर्मों को आलोक-स्तम्भ बना बनाकर जीवन-पथ में स्थापित करता रहा है।

सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामञ्जस्य की ओर इंगित करता है, विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसी की ओर संकेत करती है, पर दोनों के संकेत में अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप; व्यापक सामञ्जस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नहीं रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि में एक लहर का दूसरी लहर से होता है

पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है जैसा पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है। सौन्दर्य चिरपरिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय में नितान्त साधारण बन जाती है; इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही, अन्तहीन काव्यकथा में नये परिच्छेद जोड़ती रही है।

आधुनिक युग में कलाकार की सीमाएँ जानने के लिए जीवन-व्यापी वातावरण की विषमताओं से परिचित होना अपेक्षित रहेगा।

हमारी सामाजिक परिस्थिति में अभी तक प्रतिक्रियात्मक ध्वंस-युग ही चल रहा है। उसके सम्बन्ध में ऐसा कोई स्वस्थ और पूर्ण चित्र अङ्कित नहीं किया जा सका जिसे दृष्टि का केन्द्र बनाकर निर्माण का क्रम आरम्भ किया जा सकता। इस दिशा में हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुविधा के अनुसार ही तोड़ने-फोड़ने का कार्य करते चलते हैं, अतः कहीं चट्टान पर सुनार की हथौड़ी का हल्का स्पर्श होता है और कहीं राख के ढेर पर लोहार के हथौड़े की गहरी चोट। क्या संस्कृति, क्या आदर्श, सबमें हमारी शक्तियों का विच्छिप्त जैसा प्रयोग है, इसी से जो टूट जाता है वह हमारी ही आँखों की किरकिरी बनने के लिए वायुमण्डल में मँडराने लगता है और जो हमारे प्रहार से नहीं बिखरता, वह विषम तथा विरूप बनकर हमारे ही पैरों को आहत और गति को कुण्ठित करता रहता है। निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव में व्यक्तिगत प्रयास, अराजकता के आकस्मिक उदाहरणों से अधिक महत्त्व नहीं पाते।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारों में जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है वह हमारे समाज के लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति-विह्वलता ने उसे एक प्रकार से असामाजिक प्राणी की स्थिति में डाल दिया है।

प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है; उसका स्वप्न, वर्तमान ही नहीं अनागत को भी रूपरेखा में बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्त्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी, व्यष्टिगत और अनेकरूप अभिव्यक्तियाँ दूसरों तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ हैं।

कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधता आवश्यक रहेगी। जब समाज उसके किसी भी स्वप्न का मूल्य नहीं आँकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल में फेंककर रूठे बालक के समान क्षोभ प्रकट कर देता है और महान्, समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है। हमारी कला के क्षेत्र में जो एक उच्छृङ्खल गति है उसके मूल में निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक, विवश क्षोभ की अस्थिरता ही मिलेगी।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त। एक चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता

हुआ एक पैर से दौड़ लगा रहा है। गर्म और ठण्ढे जल से भरे पात्रों की निकटता जैसे उनका तापमान एक सा कर देती है उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति उन्हें एक सी निर्जीवता देती रहती है। आज तो वाह्य और आन्तरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ रूढ़िग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और रीतिकालीन प्रवृत्तियों की चञ्चल क्रीड़ा ही गतिशीलता है। इतना ही नहीं, इस स्वर्ग के खँडहर का द्वारपाल अर्थ बन गया है। कलाकार यदि धर्म के क्षेत्र में प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गङ्गायमुनी काम की अम्बारी में जाना होगा जो उसकी निर्धनता में सम्भव नहीं।

हमारी संस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया था जो जीवन से अधिक मृत्यु में दृढ़ होता गया। क्या काव्य, क्या मूर्त्ति, क्या चित्र सबकी यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब ध्वंस के असंख्य स्तरों के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया तब धर्म के निर्जीव कंकाल में हमें मृत्यु का ठंढा स्पर्श मिलने लगा।

शरीर को चलानेवाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उसके अभाव में अचल शरीर का गल गलकर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा। समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया यह तो हम न जान सके परन्तु व्यावहारिक धर्म की विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रहीं। ऐसी स्थिति में काव्य तथा कलाओं की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी। निर्माणयुग में

जो कलासृष्टि अमृत की सञ्जीवनी देकर ही सफल हो सकती थी वही, पतनयुग में मदिरा की उत्तेजनामात्र बनकर विकासशील मानी गई। मदिरा का उपयोग तो स्वयं को भुलाने के लिए है, स्मरण करने के लिए नहीं और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना में ही सम्भव है। परिणामतः कलाएँ और काव्य जैसे जैसे हममें विस्मृति की चेष्टाएँ भरने लगे वैसे वैसे हम विकासपथ पर पथभ्रष्ट होते गये।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिए जिस अध्यात्म का आह्वान किया, काव्य ने सौन्दर्य-काया में उसी की प्राणप्रतिष्ठा कर दी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव सा रहा।

कुछ ने सम्प्रदायों की संकीर्णता से बाहर रहकर, आदर्श-चरित्रों को नवीन रूपरेखा में ढाला और इस प्रकार पुरानी सांस्कृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को, व्यक्तिगत साधना के उस धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरूप एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीठिका भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु उसके स्थान में किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण वह अस्वीकृति एक उच्छृङ्खल विरोध-प्रदर्शन मात्र रह गई। नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास

दे सकती है जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उसका सम्बल है, वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।

धर्म ने यदि अपने आपको कूप के समान पत्थरों से बाँध लिया है, तो राजनीति ने धरती के ढाल पर पड़े पानी के समान अनेक धाराओं में विभक्त होकर शक्ति को बिखरा डाला है।

पिछले पच्चीस वर्षों में विश्व के राजनीतिक जीवन में जो जो आदर्श उपस्थित किये गये उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीज़्म और फ़ासिज़्म, अध्यात्म-प्रधान गांधीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डब्बे में ठसाठस भरे उन यात्रियों जैसे हो रहे हैं, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खड़े रहने का अवकाश और लड़ने-झगड़ने में ही मनोरञ्जन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचार-धाराओं को भी शताब्दियाँ तो दूर रहीं अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमाएँ स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने लिए

स्थान बनाने लगती है और इस प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्पर विरोधिनी शक्तियों का मेला मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न भिन्न नहीं। वास्तव में हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुत्री होने के साथ साथ धर्म और पूँजी की पोष्यपुत्री भी तो है, अतः दोनों ओर के गुण अवगुण उसे उत्तराधिकार में मिलते रहे हैं। उसकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनप सके और आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विकास पाते रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक धरातल पर भी एक सैनिक-संगठन अपेक्षित था और सैनिक-संगठन की कुछ अपनी सीमाएँ रहेंगी ही। सेना में सब वीर और जय के विश्वासी ही रहें ऐसी सम्भावना सत्य नहीं हो सकती। पर जो व्यक्ति, स्वार्थ या परार्थ के लिए, विवशता या अन्तर की प्रेरणा से, यथार्थ की असुविधा या आदर्श की चेतना के कारण, सेना की परिधि में आ गये उन सभी को बाह्य-वेशभूषा और गति की दृष्टि से एक सा रहना पड़ेगा। इस प्रकार सैनिक-सङ्गठन में बाह्य एकता का जो महत्त्व है वह आन्तरिक विशेषता का नहीं, और यह त्रुटि हमारी राष्ट्रीयता में भी अनजाने ही, अपना स्थान बनाने लगी।

यह कुछ संयोग की ही बात नहीं कि इस युग में कोई महान् कलाकार राजनीति की कठिन रेखा के भीतर स्वच्छन्दता की साँस न ले सका। जहाँ तक हमारी कविता और कलाओं का प्रश्न है, वे अनाथालय के जीवों के समान सब द्वारों पर अपना अनाथपन गाने को स्वतन्त्र

रहीं, परन्तु हर द्वार पर उनके गीत के लिए स्वर ताल निर्दिष्ट और विषय निश्चित थे। जो नीति ने सुनना चाहा, वह समाज को नहीं भाया और जो समाज को रुचिकर हुआ वह राष्ट्रीयता की स्वीकृति न पा सका।

ऐसी स्थिति में कलाकार यदि नवीन प्रेरणाओं को, जीवन की व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित कर सकता तो उसका लक्ष्य स्पष्ट और पथ परिष्कृत हो जाता, परन्तु हमारे समाज की छिन्न-भिन्नता ने यह कार्य सहज नहीं रहने दिया। इस विषम मानव-समष्टि में, सौ में चौरानबे मनुष्य तो जड़ और निर्धन श्रमजीवी हैं जिनकी स्थिति का एकमात्र उपयोग शेष छः के लिए सुविधाएँ जुटाना है और शेष छः में, अकर्मण्य धनजीवी, उच्च बुद्धिजीवी, निम्न बुद्धिजीवी श्रमिक आदि इस प्रकार एकत्र हैं कि एक की विकृति से दूसरा गलता-छीजता रहता है।

केवल धनजीवियों में, किसी जाति की स्वस्थ विशेषताओं और व्यापक गुणों को खोजना व्यर्थ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है जो जितना अधिक स्थान घेरता है उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे जैसे तीव्र होता है वैसे वैसे जीवन के सङ्कट का विज्ञापन बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च बनने की आकांक्षा और दूसरी ओर अभाव की शिलाओं से दबकर टूट जाता है उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी, उच्चताजनित गर्व और सुविधाओं के दृढ़ साँचे में पथराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को इस विराट पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का अधिकार है उसने धनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज

की संकीर्णता के साथ ही नव जागरण को स्वीकृति दी है। अतः एक शरीर में दो प्रेतात्माओं के समान, उसके जीवन में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ उछल-कूद मचाती रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और संकीर्णता से पोषित स्वभाव को इस युग की विशेषताओं ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमें पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुञ्जीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण तरल भावनाओं से अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है! इस ज्ञान व्यवसायी युग में बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है. अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्तिप्रधान है कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के वैभव में देखने का न बुद्धिवादी को अवकाश है और न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रखकर देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन

के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूलतत्त्वों से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसकी भारी पर अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे छोटी सी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओं के अनुसार वह संसार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज बुनते रहने के लिए ही उसके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते हैं।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में अधिकांश तो मानसिक हीनता की भावना में ही पलते और बढ़ते हैं। उनका बाह्य-जीवन ही, समुद्र पार के कतरे ब्योंते आच्छादनों से अपनी नग्नता नहीं छिपाये हैं, अन्तर्जगत् को भी वहीं से लोहार की धौंकनी जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पंगु से पंगु स्वप्न भी विदेशीय पङ्ख लगा लेने पर स्वर्ग का सन्देशवाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से विरूप आदर्श भी पश्चिमीय साँचे में ढलकर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं पाता। उनका मूल्यहीन से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी संस्कृति की छाया का स्पर्श करते ही पारसों का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका दरिद्र से दरिद्र विचार भी देशी परिधान में विदेशी पैबन्द लगाकर समस्त विचार-जगत् का एकछत्र सम्राट् स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियों में संस्कृति की रेखाएँ टूटी हुई और जीवन का चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है उस विशाल मानवसमूह की कथा कुछ दूसरी ही है। बुद्धिजीवियों से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय बीता होगा, इसका अनुमान, बिन्दु बिन्दु से समुद्र बने हुए उसके अज्ञान और तिल तिल करके पहाड़ बने हुए उसके अभावों से लगाया जा सकता है। आज उसकी जड़ता की खाई इतनी गहरी और चौड़ी हो गई है कि बुद्धिजीवी उस ओर झाँकने के विचार मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की बात है।

साधारणतः शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक दूसरे की गति के अवरोधक हैं, इसी से प्रायः विचारों की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक एक न एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक स्पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार बनाये रखना नहीं भूलती। इसके विपरीत, श्रम पूरा भार डाल कर ही जीवन को अपना परिचय देता है; परन्तु उसकी सम्पूर्णता को सब ओर से नहीं घेरता। प्रायः बुद्धि-व्यवसाय जितनी शीघ्रता से जीवनीशक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम में नहीं। इसी से जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धिव्यवसायी का कुछ शिथिल और अस्तव्यस्त मिलना जितना सम्भव है श्रमिक का दृढ़ और व्यवस्थित रहना उतना ही निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नहीं देता जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि श्रमिक के श्रम के साथ उसकी आत्मा का बिक जाना सम्भाव्य

ही है, परन्तु बुद्धिविक्रेता की तुला पर उसकी आत्मा का चढ़ जाना अनिवार्य रहता है।

श्रम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब युगों के सन्देशवाहक और साधक उसे महत्त्व दे सके हैं। अनेक तो जीवन के आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। इस प्रकार जहाँ कहीं जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहाँ श्रम की किसी न किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है।

केवल श्रम ही श्रम के भार और विश्राम देनेवाले साधनों के नितान्त अभाव ने हमारे श्रमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। यह स्वाभाविक भी था। जिस मिट्टी से घर बनाकर हम आँधी, पानी, धूप, अन्धड़ आदि से अपनी रक्षा करते हैं वही जब अपनी निश्चित स्थिति छोड़कर हमारे ऊपर ढह पड़ती है तब वज्रपात से कम संहारक नहीं होती। इस मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने रूढ़ियों को अतल गहराई दे दी है यह मिथ्या नहीं और अर्थवैषम्य ने इसकी दयनीयता को असीम बना डाला है यह सत्य है, परन्तु सब कुछ कह सुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रम का यह उपासक, केवल बुद्धि-व्यापारी से अधिक स्वाभाविक मनुष्य भी है और जातीय गुणों का उससे अधिक विश्वसनीय रक्षक भी। इतना ही नहीं, युगों से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार पानेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूल-रूप भी वह सँजोये है और उपयोगी शिल्पों की विविध व्यावहारिकता भी वह सँभाले है। जीवन के संघर्ष में ठहरने की वह जितनी क्षमता रखता

है उतनी किसी बुद्धिवादी में सम्भव नहीं। वास्तव में उसके तारस-प्रासाद के लिए बुद्धिजीवी ही विभीषण बन गया अन्यथा उसके जीवन में, विकृतियों की इतनी बिखरी सेना का प्रवेश, सहज न हो पाता।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियों के विभिन्न स्तरों में उत्पन्न हुए और वहीं पले हैं। अतः अपने वर्ग के संस्कारों का अंशभागी और गुण-अवगुणों का उत्तराधिकारी होना, उनके लिए स्वाभाविक ही रहेगा। उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विषमता का ज्ञान, बहुत विस्तार से सञ्चित किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखों को बहुत तीव्रता से अनुभव किया। विभिन्न संस्कारों की धूप-छाया, विविधताभरी भावभूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओं ने मिलकर उनके जीवन को एक सीमित स्थिति दे दी थी। परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वातावरण में सार्थकता देने के लिए समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—सजीव, निश्चित पर व्यापक। जिस समाज में उनकी स्वाभाविक स्थिति थी वह विषमताओं से बिखर चुका था, उससे ऊँचे वर्ग के अहङ्कार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न में उतरने पर उन्हें आभिजात्य के खो जाने का भय था। फलतः उन्होंने अपने एकाकीपन के शून्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अंकुरित होते ही ठिठुर चला।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ता। वह तो नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक् स्थिति स्वीकार करता है। यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो संसार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा।

कवि, कलाकार, साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायँगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचय-भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योंकि वह धूमकेतु सा आकस्मिक और विचित्र नहीं, किन्तु ध्रुव सा निश्चित और परिचित रहकर ही हमें मार्ग दिखाने में समर्थ है।

आज कलाकार समष्टि का महत्त्व समझता है, परन्तु इस बोध के साथ भी उसके सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नहीं है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवों की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है उतनी अपने देवताओं की नहीं। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नहीं; क्योंकि वह सिद्धान्तों को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है। जीवन के स्पन्दन से शून्य होकर सिद्धान्त जब धर्म, समाज, नीति आदि की संकीर्ण पीठिका पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब

वे व्यवसाय-वृत्ति को जैसी स्वीकृति देते हैं वैसी जीवन के विकास को नहीं दे पाते। साहित्य, काव्य आदि के धरातल पर भी इस नियम का अपवाद नहीं मिलेगा।

नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धिवैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने, ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तों को मांज-धोकर रात-दिन चमकाती रहती है पर जीवन में ज़ंग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते हैं और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते हैं। इस बनजारा-वृत्ति से उन दो पक्षों को लाभ होने की सम्भावना कम रहती है। काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है, अतः यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है, अतः जीवन के स्पन्दन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।

काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श-मात्र से सोना कर दे। एक पागल से चित्रकार को जब फटा कागज़, टूटी तूलिका और भव्वे डाल देनेवाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्जीव कागज़ जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है, रेखाओं में जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं, रोते हैं, और उसे मानवीय सम्बन्धों में बाँध रखना

चाहते हैं। एक निरर्थक झनझन से पूर्ण टूटे एकतारे के जर्जर तारों में गायक की कुशल उँगलियाँ उलझ जाने पर उन्हीं तारों में हमारे सारे सुख-दुख, रो-हँस उठते हैं, सारी सीमा के संकीर्ण बन्धन छिन्न भिन्न होकर बह जाते हैं और हम किसी अज्ञात सौंदर्य्य-लोक में पहुँचकर चकित से, मुग्ध से उसे सदा सुनते रहने की इच्छा करने लगते हैं। निरन्तर पैरों से ठुकराये जानेवाले कुरूप पाषाण से शिल्पी के कुशल हाथ का स्पर्श होते ही वही पाषाण मोम के समान अपना आकार बदल डालता है, उसमें हमारे सौन्दर्य के, शक्ति के आदर्श जाग उठते हैं और तब उसी को हम देवता के समान प्रतिष्ठित कर चन्दन फूल से पूजकर अपने को धन्य मानते हैं। जल का एकरंग भिन्न भिन्न रंगवाले पात्रों में जैसे अपना रंग बदल लेता है उसी प्रकार चिरन्तन सुख-दुख हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार बनकर प्रकट होते हैं। हमें अपने हृदयों की सारी अभिव्यक्तियों को एक ही रूप देने को आकुल न होना चाहिए क्योंकि यह प्रयत्न हमें किसी भी दिशा में सफल न होने देगा।

मनुष्य स्वयं एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्दचित्र मात्र है जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है। वह एक संसार में रहता है और उसने अपने भीतर एक और इस संसार से अधिक सुन्दर, अधिक सुकुमार संसार बसा रखा है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का—

एक उसको विश्व से बाँध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना-द्वारा उड़ाता ही रहना चाहता है।

जड़ चेतन के बिना विकासशून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार-शून्य। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा में हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे उसमें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही हैं; यही कारण है कि दो मनुष्यों के देश, काल, समाज आदि में समुद्र के तटों जैसा अन्तर होने पर भी वे एक दूसरे के हृदयगत भावों को समझने में समर्थ हो सकते हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। जिस प्रकार वीणा के तारों के भिन्न भिन्न स्वरों में एक प्रकार की एकता होती है जो उन्हें एक साथ मिलकर चलने की और अपने साम्य से संगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है उसी प्रकार मनुष्य के हृदयों में एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बेसुरा हो जाता।

फिर भी न जाने क्यों हम लोग अलग अलग छोटे छोटे दायरे बनाकर उन्हीं में बैठे बैठे सोचा करते हैं कि दूसरा हमारी पहुँच से बाहर है। एक कवि विश्व का या मानव का बाह्य-सौन्दर्य देखकर सब कुछ भूल जाता है, सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक

सङ्गीत की सृष्टि करेगा; दूसरा विश्व की आन्तरिक वेदना बहुल-सुषमा पर मतवाला हो उठता है, समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सबसे अलग एक निराले सङ्गीत की सृष्टि कर लेगा, परन्तु वे नहीं सोचते कि उन दोनों के स्वर मिलकर ही विश्व-सङ्गीत की सृष्टि कर रहे हैं।

मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघातविशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड़ द्रव्य से अन्य पशु तथा वनस्पति-जगत् के समान ही उसका शरीर निर्मित और विकसित होता है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत् में ही रहेगी और प्राणिशास्त्र के सामान्य नियमों से संचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति में जीवन के जितने रूप देखे जाते हैं मनुष्य उनमें इतना विशिष्ट जान पड़ता है कि सृजन की स्थूल समष्टि में भी उसका निश्चित स्थान खोज लेना कठिन हो जाता है, परन्तु इस कठिनाई के मूल में तत्त्वतः कोई अन्तर न होकर विकास-क्रम में मनुष्य का अन्यतम और अन्तिम होना ही है।

यदि सबके लिए सामान्य यह बाह्य संसार ही उसके जीवन को पूर्ण कर देता तो शेष प्राणिजगत् के समान वह बहुत सी जटिल समस्याओं से बच जाता। परन्तु ऐसा हो नहीं सका। उसके शरीर में जैसा भौतिक जगत् का चरम विकास है उसकी चेतना भी उसी प्रकार प्राणिजगत् की चेतना का उत्कृष्टतम रूप है।

मनुष्य का निरन्तर परिष्कृत होता चलनेवाला यह मानसिक जगत् वस्तुजगत् के संघर्ष से प्रभावित होता है, उसके संकेतों में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है परन्तु उसके बन्धनों को पूर्णता में स्वीकार नहीं करना चाहता। अतः जो कुछ प्रत्यक्ष है केवल उतना ही मनुष्य नहीं कहा जा सकता—उसके साथ साथ उसका जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन है उसे भी समझना होगा, प्रत्यक्ष जगत् में उसका भी मूल्यांकन करना होगा, अन्यथा मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा सारा ज्ञान अपूर्ण और सारे समाधान अधूरे रहेंगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निकट बाह्य जगत् की सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। ओस की बूँदों से जड़े गुलाब के दल जब हमारे हृदय में सुप्त एक अव्यक्त सौंदर्य और सुख की भावना को जाग्रत कर देते हैं, उनकी क्षणिक सुषमा हमारे मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देती है तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिश्री में गलाकर और गुलकन्द नाम देकर औषधि के रूप में ग्रहण करते हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा तज्जनित रूप कभी कभी इतने भिन्न हो जाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् का पूरक होकर भी उसका विरोधी जान पड़ता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से संचालित होकर भी उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत् का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत होते चलना है, परन्तु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता

है कि वह निश्चित रूप से केवल बुद्धि या केवल भावना का सूत्र पकड़ने में असमर्थ ही रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भावपक्ष की प्रधानता ही हमारी इस धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में हो सका है और हृदय का जीवन में। एक में हम बाह्य जगत् के संस्कारों को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण परीक्षण करते हैं और दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर लाकर उनका मूल्य आँकते हैं।

चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धिवृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास पाते हैं जो उसे जैसे जैसे संसार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चलता है वैसे वैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक के निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी; अन्तर केवल इतना ही है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उलझन है, उन रूपों में छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी अपनी खोज में दोनों ही वीतराग हैं क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जड़द्रव्य के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक व्यक्त के रहस्य की गहराई तक पहुँचना

चाहता है, दूसरा उसी के प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक; परन्तु दोनों ही दिशाओं में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है, इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन का वह सम्पूर्ण चित्र जो मनुष्य और शेष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से अनुप्राणित है नहीं दे सकते।

मनुष्य के ज्ञान की कुछ शाखाएँ दर्शन, विज्ञान आदि के समान अपनी दिशा में व्यापक न रहकर जीवन के किसी अंश विशेष से सम्बन्ध रखती हैं, अतः जहाँ वे आगे बढ़ते हैं वहाँ ये जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ परिवर्तित हो होकर अपनी तात्कालिक नवीनता में ही विकसित कहलाती हैं।

मनुष्य एक ओर अपने मानसिक जगत् की दुरूहता को स्पष्ट करता चलता है, दूसरी ओर अपने बाह्य संसार की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। उसके समाजशास्त्र, राजनीति आदि उसकी बाह्य स्थिति की व्याख्या हैं, उसका विज्ञान प्रकृति के मूलतत्त्वों से उसके संघर्ष का इतिहास है, उसका दर्शन उसके तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है और उसका साहित्य उसके उस समग्र जीवन का सजीव चित्र है जो राजनीति से शासित, समाजशास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्यापक हो चुका है।

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे धूपछाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और

कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत् त्याज्य है और न बाह्य क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।

मनुष्य के बाह्य जीवन में जो कुछ ध्वंस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई हैं, जीवनसंघर्ष में उसे जितनी हारजीत मिली है केवल उसी का ऐतिहासिक विवरण दे देना साहित्य का लक्ष्य नहीं। उसे यह भी खोजना पड़ता है कि इस ध्वंस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थीं, निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन सा आत्मबल अक्षय था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की संज्ञा थी और जीत में उसकी कौन सी कल्पना साकार हो गई।

जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्यजगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युगविशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।

साहित्य की विस्तृत रंगशाला में हम कविता को कौन सा स्थान दें यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जो कठोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायु-मण्डल से मिला देनेवाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आकाश-खण्ड को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं बाँधता प्रत्युत हमें उस सीमा-रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि-प्रसार की सुविधा देने के लिए; उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उनमें सामञ्जस्य की ऐसी परिणति होती है न आयास-हीनता। जीवन की विविधता में सामञ्जस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामञ्जस्य पर स्थित हैं।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिणाम में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी

विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने संचित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अग्रजा रही है। यह क्रम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है क्योंकि जीवन में चिन्तन के शैशव में ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य बाह्य संसार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिशु जीवन से ही स्पष्ट हो जायगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फल के विकास से करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अपने सौरभ में अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी परिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा अपने विस्तार में।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उसके बाह्य रूप को इतना महत्त्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी मिला था। जिस युग में मानव-जाति के समस्त ज्ञान को एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ में संचरण करते हुए

ही रहना पड़ता था उस युग में उसकी प्रत्येक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता के कारण स्मृतिसुलभ पद्य का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त शुष्क ज्ञान ने अधिक ग्राह्य होने के लिए भी पद्य की रूपरेखा का वह बन्धन स्वीकार किया जिसमें विशेष ध्वनि और प्रवाह से युक्त होकर शब्द अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। कहना व्यर्थ होगा कि काव्य के उस धुँधले आदिम काल से लेकर जब आवश्यकता वश ही मनुष्य प्रायः अपने बौद्धिक निरूपणों को भी काव्य-काया में प्रतिष्ठित करने के लिए बाध्य हो जाता था, आज गद्य के विकास-काल तक ऐसी कविता का अभाव नहीं रहा।

साधारणतः हमारे विचार विज्ञापक होते हैं और भाव संक्रामक, इसी से एक ही सफलता पहले मननीय होने में है और दूसरे की पहले संवेदनीय होने में। कविता अपनी संवेदनीयता में ही चिरन्तन है, चाहे युग-विशेष के स्पर्श से उसकी बाह्य रूपरेखा में कितना ही अन्तर क्यों न आ जावे। और यह संवेदनीयता भावपक्ष ही में अक्षय है।

छायावाद

अपने मूल्य को बढ़ाने के लिए दूसरों का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस जागरणयुग को अधिक महत्त्व दिया होता जिसकी उग्र वाणी ने पहले-पहल एक स्थायी बवंडर से उसके लक्ष्य का नाम पूछा, जिसकी पैनी दृष्टि ने पहले बढ़कर विकृति के अक्षरों में प्रकृति की भाग्य-लिपि पढ़ी और जिसकी धीरगति ने सर्वप्रथम नवीन पथ के काँटे तोड़े।

परिवर्तन को सम्भव करने का श्रेय, राजनीति, समाज, धर्म आदि से सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थितियों को भी देना होगा, परन्तु उस जागरण-काव्य के वैतालिकों में यदि सक्रिय प्रेरणा के स्थान में आज की विवादैषणा होती तो सम्भवतः अब तक हम इसी उलझन में पड़े रहते कि नायिकाओं की प्रशस्ति वंशस्थ में गाई जावे या ऋग्वेद की ऋचाएँ सवैया में उतारी जावें। विवाद का साधन से साध्य बन जाना बहुत स्वाभाविक होता है और साध्य बनकर वह हमारी बौद्धिक प्रेरणाओं और मानसिक प्रवृत्तियों का कोई और क्रियात्मक उपसंहार असम्भव कर देता है, इसी से क्रिया के अकालक्षम आह्वान के अवसर पर हम विवाद की क्षमता नहीं रखते।

उस जागरण-युग में बहुत विस्तार से फैले हुए आदर्श और सारतः संक्षिप्त किये हुए यथार्थ के पीछे जो पीठिका रही वह

अनेक रूपी परिस्थितियों से बनी और भिन्नवर्णी परिवर्तनों से रँगी थी।

एक दीर्घकाल से कवि के लिए, सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना एक व्यापक उलट-फेर के बिना सम्भव ही नहीं था जो समय से सहज हो गया।

शासन के रङ्गमञ्च पर नई शक्ति का आविर्भाव होते ही काव्य के केन्द्रों का बदलना क्यों सम्भव हो गया इसे हम जानते ही हैं, परन्तु ज्ञातव्य की पुनरावृत्ति भी अज्ञान की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह तो स्पष्ट ही है कि नवागत शासक-सत्ता के दृष्टिकोण में धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वन्द्वी बनाना चाहता है न सजग शत्रु। विरोध में दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं। यदि विपक्ष सबल है तो जय के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और षड्यन्त्र रचता रहेगा। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के लिए संख्या भी विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि सम्पन्न से दरिद्र तक को घेर लेने की शक्ति ही व्यापारिक सफलता का मापदण्ड है। चतुर से चतुर व्यापारी भी केवल सम्राटों से व्यापार कर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। अतः नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हमारी देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी संस्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आँगन में न बुला लाना कठिन हो गया। एक संस्कृति जो पाँच

सौ वर्ष में न कर सकी उसे दूसरी ने डेढ़ सौ वर्ष में कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख लें।

हमारे बाह्य अन्धानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ क्षोभ है न खिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिचित पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरन्तर संघर्ष से हम इतने द्वेष-जर्जर और क्लान्त हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म्म भी भाले की नोक पर न आकर इन्जेक्शन की महीन सुइयों में आया जिसका पता परिणाम में ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओं की राख में से रोष की चिनगारी कुरेदकर हमने संघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही तब राख के साथ चिनगारी भी उड़ गई।

इस प्रकार तात्कालिक रक्षा और निरन्तर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामन्तवर्ग का महत्त्व बाढ़ के जल के समान स्वयं ही घट गया। इतना ही नहीं, वह वर्ग नवीन शासकसत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चित करने में व्यस्त हो गया। ऐसी दशा में कवि किसके इंगित पर व्यायाम करता और कविता किस आशा पर दर्बार में नृत्य करती? परिवर्तनों के उस समारोह में काव्य ऐश्वर्य की कठिन रेखा पार कर जीवन की सरल व्यापकता में पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को, अर्थ ही नहीं धर्म्मकेन्द्रों से भी इतना विमुख कर दिया कि आज कवि का सन्त होना सम्भाव्य माना जाता है पर सन्त में कवित्व अतीत की कथामात्र।

राजनीति में उलझी और शासकसत्ता की ओर निरन्तर सतर्क दृष्टि को जब कुछ अवकाश मिला तब वह धर्म्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म्म के क्षेत्र में नवीन प्रेरणाओं का अभाव नहीं रहा, परन्तु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म्म-प्रधान होने के कारण वे किसी न किसी प्रकार राजनीति की परिधि में आती रहीं और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रहीं। अन्त में बाह्य विरोध और आन्तरिक रूढ़ि-प्रियता ने धर्म्म को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ वह काव्य को नई स्फूर्ति देने में असमर्थ हो गया।

बदली राजनीतिक परिस्थितियों में धर्म और समाज के क्षेत्रों में सुधारकों का जो आविर्भाव हुआ है उसे ध्यान में रखकर ही हम खड़ी बोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओं का मूल्य आँक सकेंगे; क्योंकि उन सब की मूलप्रवृत्तियाँ एक हैं, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हों।

शून्य में व्याप्त स्वरों को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देनेवाली वीणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्त्तन को काव्य की रूप-रेखा में स्पष्ट किया वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। यदि वह युग सुधार का सहचर न होकर कला का सहोदर होता तो सम्भवतः उसके आदर्शवाद में बोलनेवाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड़ परम्परा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वातावरण में मँडराती हुई विषमताओं के कारण वह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओं पर उसने

विश्राम ही नहीं किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य में जीवन के परिचायक माने जावें तो वह युग बहुत सजीव है और यदि विषय की विविधता काव्य की समृद्धि का मापदण्ड हो सके तो वह युग बहुत सम्पन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रान्तीय भाषाओं की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भाषा का जो प्रश्न आज सुलझाया जा रहा है वह हमें खड़ी बोली के उन साहसी कवियों का अनायास ही स्मरण करा देता है जिन्होंने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की धात्री देशी भाषाओं का अनादर न करते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से भाषा की अनेकता में एकता का प्रश्न हल किया था।

काव्य की भाषा बदलना सहज नहीं होता और वह भी ऐसे समय जब पूर्वगामी भाषा अपने माधुर्य में अजेय हो, क्योंकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दों में काव्य की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है, दूसरे उत्कृष्टता के अभाव में प्राचीन का अभ्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छन्द तो भाषा के सौन्दर्य की सीमाएँ हैं, अतः भाषा-विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असम्भव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते, इसी से या तो उसे अपने बन्धनों के अनुरूप काट-छाँट कर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओं को कहीं दूर तक फैलाकर और कहीं संकीर्ण कर अपने नाद-सौन्दर्य-सम्बन्धी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुँच जाते हैं।

तद्भव और अपभ्रंश शब्दों के स्थान में शुद्ध संस्कृत शब्दों को प्रधानता देनेवाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छन्द चुने जो

संस्कृतकाव्य में उन शब्दों का भार ही नहीं सँभाल चुके थे, नाद-सौन्दर्य की कसौटी पर भी परखे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस काव्य-युग के पास जैसी चित्रशाला है उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविधता कौतूहल का आधार बनती है। उसमें पौराणिक गाथाएँ बोलती हैं और साधारण दृष्टान्त-कथाएँ मुखर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्त्तमान विकृतियों के क्रन्दन का स्वर मँडराता है। कृषक श्रमजीवी आदि का श्रम निमन्त्रण देता है और आर्त्तनारी की व्यथा पुकारती है। शापमुक्त पाषाणी के समान परम्परागत जड़ता से छूटी हुई प्रकृति सबको अपने जीवित होने की सूचना देने को भटकती है और भारतीयता से प्रसाधित जातीयता उदात्त अनुदात्त स्वरों में अलख जगाती है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नहीं है। तब तक एक ओर तो उस संस्कृति के प्रति, हमारी भ्रातृभावना विकसित नहीं हुई थी, जिसके साथ हमारा संघर्ष दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकसत्ता की नीतिमत्ता का ऐसा परिचय नहीं मिला था जिससे हम उसके प्रति तीव्र असन्तोष का अनुभव करते। भारतेन्दु-युग में भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे हुए है। ऐसी स्थिति में शासक-सत्ता की प्रशस्तियाँ मिलना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस प्रवृत्ति को वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा लेते हैं जो अर्थ से विपरीत है।

नया पथ ढूँढ़ लेनेवाले प्रपात के समान उग्र और साधन-सम्पन्न उस युग को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क

यथार्थ और निश्चित आदर्श की छाया में वह सौन्दर्ययुग कैसे उत्पन्न हो गया जिसकी कथा सुरसा और पवनकुमार की कथा बन गई। उत्तर उस युग के अङ्कगणित के सिद्धान्त पर बढ़नेवाले यथार्थ और रेखागणित के अनुसार निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने के लिए फैलनेवाले आदर्श में मिलेगा। धर्म की विकृति से क्षुब्ध आदर्श ऐसी सात्त्विकता पर ठहरा जहाँ वह पत्थर की रेखाओं के समान निःस्पन्दता में स्थायी होने लगा और समाज की विषमता से सजग यथार्थ ने ऐसी शृङ्गारहीनता अपनाई कि इतिवृत्त ही उसका अलङ्कार हो गया।

आदर्श यदि 'यह करो वह न करो' में शास्त्र की ग्रन्थियाँ खोलता है तो यथार्थ 'यह वैसा है वह ऐसा नहीं' में इतिहास के पृष्ठ लौटता है। रीतिकालीन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण उसने उसकी त्रुटियाँ सहस्र नेत्रों से देखीं पर उसके वैभव को अनदेखा कर दिया इसी से वह उस सौन्दर्य से तादात्म्य न कर सका जो सब युगों के लिए सामान्य और सब कलाओं का प्राप्य है।

रीति-काल की सौन्दर्य-भावना स्थूल और यथार्थ एकांगी था, परन्तु उक्तियों में चमत्कार की विविधता, अलंकारों में कल्पना की रंगीनी और भाषा में माधुर्य का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी संकीर्णता की ओर किसी की दृष्टि का पहुँचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्थूल को राज्यच्युत करने के लिए जब कवि उपदेश-प्रवण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया तब उसका प्रयास स्वयं उसी को थकाने लगा।

कला के क्षेत्र में जो यह जानता है कि स्वप्न झूठे नहीं होते, सौन्दर्य पुराना नहीं होता वही चिरन्तन सत्य की चिर नवीन प्रतिमाओं का निर्माण कर सकता है और निरपेक्ष आदर्श को असंख्य सापेक्ष रूपों में साकार कर सकता है। कला का उत्कृष्ट निर्माण द्वेष के पङ्खों पर नहीं चलता, अस्त्रों की झनझनाहट में नहीं बोलता और युद्ध के आँगन में नहीं प्रतिष्ठित होता। किसी रेखा को छोटी और अस्पष्ट सिद्ध करने के लिए जब हम उसके समानान्तर पर दूसरी बड़ी और स्पष्ट रेखा खींच देते हैं तब हमारे उस निर्माण से कला के निर्माण की कुछ तुलना की जा सकती है। कलाकार निर्माण देकर ध्वंस का प्रश्न सुलझाता है, ध्वंस देकर निर्माण का नहीं, इसी से जब किसी परम्परा का ध्वंस उसकी दृष्टि का केन्द्र बन जाता है तब उसमें कला-सृष्टि के उपयुक्त संयम का अभाव हो जाता है।

एक सौन्दर्य के अनेक रूपों के प्रति कलाकार का वही दृष्टिकोण रहेगा जो एक ही देवता की अनेक पूर्ण और अपूर्ण, अखण्ड और खण्डित मूर्त्तियों के प्रति उपासक का होता है! जो खण्डित है, विकलाङ्ग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नहीं, फलतः पूजा के योग्य भी नहीं माना जाता; पर उपासक उसके स्थान में पूर्ण और अखण्ड की प्रतिष्ठा करके उसे जल में प्रवाहित कर आता है, चरणपीठ नहीं बना लेता।

कलाकार भी सौन्दर्य की खण्डित और विकलाङ्ग प्रतिमाओं को समय के प्रवाह में छोड़कर उनके स्थान में पूर्ण और अखण्ड को

प्रतिष्ठित करता चलता है। सौन्दर्य के मन्दिर में ऐसा कुछ नहीं है जो पैरों से कुचला जा सके। जिस युग में कलाकारों की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिमा में अपने आपको साकार करके आगत युगों के लिए नहीं छोड़ जाता।

परिस्थितियों की विषमता ने हमारे जागरण-युग को पिछले सौन्दर्य-बोध की संकीर्णता की ओर इतना जागरूक रखा कि उसकी सुकुमार कल्पना और रङ्गीन स्वप्नों को इतिवृत्तात्मकता की वर्दी पर आदर्श के कवच पहनकर जीवन-संग्राम के लिए परेड करनी पड़ी और जिस दिन वे अपनी चुभनेवाली वेशभूषा फेंककर विद्रोही बनने लगे उसी दिन एक ऐसे युग का आरम्भ हुआ जिसमें वे जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती बन बैठे और अपनी पिछली दासता का प्रतिशोध लेने लगे।

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सम्बन्धरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल में ही ढूँढ़ा जा सकता है। हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊबकर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में

चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छाया-चित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरों की आवश्यकता होती है; कारण, उन चित्रों का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव-हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रङ्ग चढ़ाकर न बनाये जायँ तो वे प्रेत-छाया के समान लगने लगें या नहीं इसमें कुछ ही सन्देह है।

प्रकाश-रेखाओं के मार्ग में बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेनेवाली जल-राशि में कहीं छाया और कहीं आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्नवर्णा हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्प-वृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है। परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्य वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वहीं है और सत्य कहें तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचौंध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत संकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय

की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुखदुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुताविशालता, कोमलता-कठोरता, चञ्चलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं।

किन्तु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की संज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है; क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त-रेखा तक पाते हैं। कारण

स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परन्तु संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है, क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश-विशेष के जलवायु में विकसित जाति-विशेष के अन्तर्जगत् और वाह्य-जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रङ्गों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की वाह्य रूप-रेखा वदलती रहती है, परन्तु मूल तत्त्वों का वदल जाना तव तक सम्भव नहीं होता जव तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमण्डल ही न हटा लिया जावे।

जहाँ इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पातीं उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर वस गई थी जहाँ न वर्फ़ के तूफ़ान आते थे, न रेत के ववंडर, न आकाश निरन्तर ज्वाला वरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल भर भूमि और पल भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष होता था, न हार, उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती है। सुजला, सुफला, शस्यश्यामला पृथ्वी के अङ्क में, मलय-समीर के झोंकों में झूलते हुए, मुस्कराती नदियों की तरङ्ग-भङ्गिमा में गति मिलाकर, उन्मुक्त आकाशचारी विहङ्गों के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना

और भावना को विस्तार दिया, जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना की उसके संस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल में भी वे अङ्कुरित होने की प्रतीक्षा में धूल में दबे हुए बीज के समान छिपे रहे, कभी नष्ट नहीं हुए।

वास्तव में उस प्राचीन जीवन में मनुष्य को प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करने की, उसके व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की, उसकी समष्टि में रहस्यानुभूति की सभी सुविधाएँ सहज ही दे डालीं। हम वीर पुत्रों और पशुओं की याचना से भरी वेद-ऋचाओं में जो इतिवृत्त पाते हैं वही उषा, मरुत् आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सौन्दर्यानुभूति में बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौन्दर्यबोध उस सर्ववाद का अग्रदूत बन जाता है जिसका अंकुर पुरुष-सूक्त में, विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक सृष्टि-सम्बन्धी ऋचाओं के गम्भीर प्रश्नों में मिलती है जो उपनिषदों के ज्ञान-समुद्र में मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सोऽहम् आदि ने उस युग के चिन्तन को कितनी विविधता दी है यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्त्वचिंतन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के प्रति वीतराग बनाकर निष्क्रियता बढ़ाई और दूसरी ओर अनधिकारियों द्वारा, प्रयोग रूप सिद्धान्तों को सत्य बन जाने दिया जिससे रूढ़िवाद की सृष्टि सम्भव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया

से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने एक ओर ज्ञान-क्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान में अपनी सक्रिय करुणा दी और दूसरी ओर रूढ़िवाद को रोकने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकृत कर दिये। यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन में नये उलट-फेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता के जीवन में भी स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, उसका चिन्तन में अत्यधिक प्रसार और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा जिसकी धारा वीरगाथाकालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखण्डों में से फूटकर निर्गुण सगुण भावनाओं की उर्वर भूमि में प्रशान्त, निर्मल और मधुर होती हुई रीतिकालीन रूढ़िवाद के क्षार जल में मिलकर गतिहीन हो गई। परिवर्तन का वही क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूप-रेखाओं में बाँधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रूढ़िवाद से थके हुए कवियों ने जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभविकता और प्रचार की सुविधा समझकर व्रजभाषा का जन्मजात अधिकार खड़ी बोली को सौंप दिया तब साधारणतः लोग निराश ही हुए। भाषा लचीलेपन से मुक्त थी और उक्तियों में चमत्कार न मिलता था। इसके साथ साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी अतः उस

युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्त्विक, छन्द नवीनताशून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं। पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृङ्खला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का, न तो यथार्थ-चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूपरेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी जो छाया-वाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छन्दबन्धों में, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप तोल और काट छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी, परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण वे कहीं सौन्दर्या-नुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म

रङ्ग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी हैं।

पिछले छायापथ को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है उसने अस्पष्टता आदि परिचित विशेषणों में सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर छायावाद को अतीत और वर्तमान से सम्बन्धहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है अतः यह हमारे मानसिक जगत् में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौंदर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्त्विकता में भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह हमारे कृष्णकाव्य का शृङ्गार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौन्दर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राणप्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रङ्ग-रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि में भी अपना स्थान ढूँढ़ती रहती है, मोड़ना कब सम्भव

होता यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करनेवाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार में तो सूक्ष्म के सम्बन्ध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं जो आज की वस्तु है। परन्तु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला में हमारी दृष्टि को दौड़ा दौड़ाकर ही उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखाया। इसी से छायावाद के सौन्दर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौन्दर्य-सत्ता के प्रति नितान्त उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमें निर्माण के परमाणु नहीं पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमें अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौन्दर्य-दृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियों के चित्रों की निष्क्रियता में मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओं के रूप भी छायायुग की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल के धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं इसमें सन्देह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन' में तपःपूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपकों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देनेवाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेंगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक सन्तुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धान्तों का संग्रह है जो अपने प्रयोग रूप को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि

हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हमें जीवन के ध्वंस में लगे हुए विज्ञान के स्थूल को भी अस्वीकार कर देना चाहिए। अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, वानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर सृष्टि में सुन्दरतम ही नहीं शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढ़कर हम उन रूपों में सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सञ्चय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धान्त एक के होकर सबके हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चिन्तन में ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् ऐकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतन्त्र हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों से मुक्त जो सत्य है उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला हीं है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गान्धी भी।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लाँघकर न जाने कितने अर्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उसे नापना चाहता है जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा-खोटापन कसने की कोई कसौटी नहीं है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा यह निर्विवाद है परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव में जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शरीर-विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड खण्ड कर उसके सम्बन्ध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमें उसके प्रति अनुरक्ति नहीं देता। इस प्रकार यह बुद्धिप्रसूत चिन्तन में

ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी संवेदना में रँग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं; और यदि देता भी है तो वे एक एक मांसपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रङ्ग चढ़ाये यथार्थ का चित्र दे परन्तु इस यथार्थ का कला में स्थान नहीं, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान् और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टि-कोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो चार टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं और दो एक रङ्ग के धब्बों से ही दो क्षण में अपना चित्र समाप्त कर देगा; परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यों का त्यों कागज़ पर उतारने में सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है जिसमें चित्रकार ने रेखा रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण में होती है जिसमें वह जीवित ही नहीं अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से

उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्नतम स्तर से भी काव्य के उपादान ला सकता है, परन्तु वे उसी के होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रङ्गीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप से यह तारुण्य का द्योतक है जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं तब हम अपनी दृष्टि की रङ्गमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रङ्गीन और साँस की सुरभि से ही काँटों को सुवासित करते चलते हैं। परन्तु जैसे-जैसे संघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं, कल्पना के पङ्ख झड़ते जाते हैं वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रङ्गीनी फीकी पड़ती जाती है और अन्त में पलित केशों के साथ इसके भी रङ्ग धुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य सम्भव नहीं इसी से आज न कवीन्द्र वृद्ध हैं न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं किन्तु वह एक

सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखण्ड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन में ऐकान्तिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखण्ड के सम्बन्ध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आँक सकेंगे और वर्ग उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर उसके सम्बन्ध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परन्तु खण्ड खण्ड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि व्यष्टि में व्याप्त एक विराट् जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाँटकर जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जाग्रत करना सम्भव नहीं है, केवल शतरञ्ज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा-बढ़ाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ-द्रष्टा ही नहीं स्वप्न-स्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला; जीवन में नहीं, परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता में देखना चाहेंगे तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा बन गई है कि वह जीवन-संग्राम में असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकनेवाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है यह कथन कितना अपरीक्षित है इसका सबल प्रमाण हमारा चिन्तन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर संघर्ष से निश्चेष्ट थी न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उसका घर धन-धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सन्तोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सांस्कृतिक ध्वंस। परन्तु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिन्तन के नवीन लोक में भटक गया और उपनिषदों में उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर से स्थूल की ओर लौटना पड़ा।

व्यक्ति के जीवन में भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के संघर्षों में पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नहीं किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही थकाकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी चुरानेवाले विद्यार्थी को जब हम खिलौनों से घेरकर छोड़ देते हैं तब कुछ दिनों के उपरान्त वह स्वयं पुस्तकों के लिए विकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूलकर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्रवन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहें चाहे उससे पलायन की वृत्ति परन्तु वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग की ऐसी क्रान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जाग्रत भी नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असन्तोष का इतना स्याह रङ्ग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनायें तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकराकर भी कर्कश नहीं हो सकीं, परन्तु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों को जीवन-संघर्ष में असमर्थ नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरम्भ में जो विकृति थी आज वह शतगुण हो गई है। उस समय की क्रान्ति की चिनगारी आज सहस्त्र सहस्त्र लपटों में फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परन्तु आज भी तो हम अपने शान्त चिन्तन में बुद्धि से खराद खरादकर सिद्धान्तों के मणि ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धान्तों की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है उसे भी हमारे हृदय के बन्द द्वार से टकरा-टकराकर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन सम्भव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है। और यदि विचारकर देखा जाय तो जीवन से केवल भावजगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।

यदि इन सब उलझनों को पारकर हम पिछले और आज के काव्य की एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के

कोने-कोने और सूक्ष्म सौन्दर्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है, अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवंती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण हैं। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पड़ने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं के निकट है। उसके प्रतिनिधि कवि भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बँगला काव्य-साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परन्तु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नहीं दे सकता था। विशेषतः बँगला से उन्हें जो मिला वह तत्त्वतः भारतीय ही था; क्योंकि कवीन्द्र स्वयं भारतीय संस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होंने अपने देश की अध्यात्म-सुधा से पश्चिम का मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियों ने उनके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दुःखों की अभिव्यक्ति इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं जो परस्पर सापेक्ष रहेंगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन की सजीव संगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौन्दर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति सम्भव नहीं। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नहीं, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

वातत्विषो मरुतो वर्ष निर्णिजो यमा इव सुदृशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवः॥

ऋ० ५-५७-४

× × × ×

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे।

ऋ० ५-५७-५

विद्युत्-प्राण (तीक्ष्ण कान्ति) से उद्भासित, जलधारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत् एक से सुन्दर और शोभन हैं। अरुण-पीत अश्वोंवाले इन वीरों ने विस्तृत अन्तरिक्ष छा लिया है।

(कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है।)

ऐसे चित्रगीतों ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ गीतों को कितनी रूपरेखा दी है यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो !
घेर घेर घोर गगन धाराधर ओ !
ललित ललित काले घुँघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छवि उर में कवि नव जीवन वाले !
वज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो !—निराला

इस गीत की रूप-रेखा ही नहीं, उसका स्पन्दन भी ऐसी सनातन प्रवृत्ति से सम्बद्ध है जो नये-नये रूपों में भी तत्त्वतः एक रह सकी। इसी प्रकार—

भद्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि।
चक्षुष्मति मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्यानक्षत्राण्यमुक्थाः॥
अथर्व० १६–४६–८

(हे विश्रामदायिनी कल्याणि ! तू पूर्ण पात्र के समान (शान्ति से भरी हुई) है, नवीन है; सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गई है। हे सब पर दृष्टि रखनेवाली स्नेहशीले रात्रि ! तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से अपना शृंगार किया है।)

उपर्युक्त गीत में रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियों को मुग्ध करता आया है।

खड़ी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्त-माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकर-मुखी रजनी-पुरन्ध्री !—हरिऔध

छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पन्दन को देता है—

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास।
कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;
राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है, तामरस-सुन्दर चरण के प्रान्त।
मनु निरखने लगे ज्यों ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।—प्रसाद

तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास
मधुर हैं उसके दोनों अधर
किन्तु ज़रा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास !
हँसता है तो केवल तारक एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों से।—निराला

प्रसादजी अपनी सुनहली तूलिका से इड़ा का चित्र खींचते हैं—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल !

था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये

दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये

त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक वसन लिपटा अराल !

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उषा के सामने खड़ा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती शुक्रवासा।

विश्वस्येशाना.........

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान से वेष्टित किरणों से उद्भासित, नवीन और विश्व की समस्त निधियों की स्वामिनी है।)

अरुण शिशु के मुख पर सविलास

सुनहली लट घुँघराली कान्त।

× × ×

आलोक-रश्मि से बुने उषा-अञ्चल में आन्दोलन अमन्द।—प्रसाद आदि पंक्तियों में जो कल्पना मिलती है वह कुछ परिवर्त्तित रूप में ऋग्वेद के निम्नगीतों में भी स्थिति रखतीं है।

हिरण्यकेशा रजसो विसारेऽहिं धुनिवातरभ्रजीमान्

शुचिभ्राजा उषसो नवेदा... ... ...

(सुनहली अलकोंवाला वह अन्धकार दूर कर दिशाओं में फैल जाता है; अहि के समान (लहरोंवाला), वात सा गतिशील और सबकी कम्पन का कारण वह आलोकशोभी उषा का ज्ञाता है।)

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरुप्रियम्

उषः शुक्रेण शोचिषा।

(हे दीप्तिमति! तूने इस विस्तृत और प्रिय अन्तरिक्ष को आलोक और किरणों से बुन दिया है।)

कामायनी में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल

मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

इससे हजारों वर्ष पूर्व अथर्व का कवि लिख चुका है—

सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम्।

(तू समुद्र का सार है, तू बिजलियों का फूल है।)

उदयाचल से बाल हंस फिर,

उड़ता अम्बर में अवदात।—पन्त

आदि पंक्तियों में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है वह भी अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है।

सहस्रहरण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

(आकाश में उड़ता हुआ वह उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा तक पंख फैलाये रहता है।)

इसी प्रकार

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरितस्रजः।—अथर्व

(उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्रमालायें पहने खड़े हैं) का भाव ही इन पंक्तियों में पुनर्जन्म पा गया है—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे

किसके रस से सिंचे हुए ?—प्रसाद

आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थितियों में प्राचीन मनीषियों का अनुकरण करना सम्भव ही नहीं था, पर उनकी दृष्टि की भारतीयता से ही उनकी रचनाओं में वे रङ्ग आ गये जो इस देश के काव्य-पट पर विशेष खिल सकते थे।

विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का रूप देता है—

कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः।

किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ॥

(यह समीर क्यों नहीं चैन पाता ? मन भी क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता ? (दोनों क्यों चञ्चल हैं ?) कौन से सत्य तक पहुँचने के लिए (जीवन के समान) जल भी निरन्तर प्रवाहित है ?)

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी एक रहस्यमय सौन्दर्य दिया है—

किसके अन्तःकरण-अजिर में

अखिल व्योम का लेकर मोती,

आँसू का बादल बन जाता
फिर तुषार की वर्षा होती ?—प्रसाद

अलि ! किस स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात ?
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक-स्वप्नों की रात ?—पन्त

संस्कृत काव्यों में प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से पग मिलाकर चलने लगती है, अतः हम मानव-आकार के समान ही उसकी यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय के साथ उसका गूढ़ स्पन्दन सुनते हैं।

वाल्मीकि के वनवासी राम कहते हैं—

ज्योत्स्नी तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

(तुषार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नहीं लगती। आतप से कान्तिहीन अङ्गोंवाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है पर शोभित नहीं होती।)

पाले से धुँधली हेमन्तिनी राका को धूप से कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्व में खड़ा करके वे दोनों का एक ही परिचय दे डालते हैं।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ कालिदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओं में भी अंकित किया है

और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलानेवाली संगिनी के रूप में भी। संस्कृत काव्यों में चेतन ही नहीं जड़ भी मानव-सुख-दुःख से प्रभावित होते हैं।

दुःखिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति।

हरित तृण छोड़कर मृग रोते हैं, शोक-विधुर हंस करुण क्रन्दन करते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य के दुःख से 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' पाषाण भी आँसुओं में पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से

'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्रुत-शाखा-रस-वाष्पदूषितान्' वृक्ष अपनी शाखाओं के रस रूपी अश्रु-बिन्दुओं से गीले हो जाते हैं।

हिन्दी काव्य में भी इसी प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं। निर्गुण के उपासकों ने प्रकृति में रहस्यमय अव्यक्त के सौन्दर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण भक्तों ने उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव संगिनी बनाया और रीति के अनुयायियों ने उसे प्रसाधन मात्र बनाने के प्रयास में भी ऐसा रूप दे डाला जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओं के शरीर-सौन्दर्य और भावों का कोई नाम-रूप ही असम्भव हो गया।

खड़ी बोली के कवियों ने अपने काव्य में जीवन और प्रकृति को वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप में

अंकित किया है जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्ध में मिलता है। प्रिय-प्रवास की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरनेवाले मृग-विहंग-लता-वृक्ष सबके चित्रण में स्पष्ट सरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पन्दन मिलेगा। प्रकृति को संगिनी के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि उत्कृष्ट काव्यों से लेकर लोकगीतों तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नहीं जिसमें मनुष्य अपने सुख-दुख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चन्द्र, गंगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद में यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दुखों को जीवन के अनन्त क्रम के साथ रखकर उन्हें विस्तार देता है। प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है जो एक रूप-खण्ड को दिव्य अखण्ड और स्पन्दित मूर्त्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दुःखों को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया जिससे उसका एक-एक स्पन्दन प्रकृति में अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा। कहीं प्रकृति उसके अरूप भावों की परिभाषा ही नहीं, चित्र भी बन जाती है—

इन्दु-विचुम्बित बाल-जलद सा
मेरी आशा का अभिनय ।—पन्त

और कहीं वह अपनी तन्मयता में यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपों से मिलते-जुलते भावों के दूसरे नाम हैं, अतः एक की संज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

झंझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला;
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला !—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप में न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु। जैसे अंगों की अनुभूति के साथ शरीर की अखण्डता का बोध रहता है और शरीर की अनुभूति के साथ अंगों की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद में विविधता स्वतः पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अतः छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही एक विराट रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण-परिचय के लिए जीवन अपना रङ्गमय भावाकाश दे डालता है।

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम
दूसरा रञ्जित किरण से श्री-कलित घनश्याम;
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल !—प्रसाद।

ढुलकते हिम जल से लोचन
अधखिला तन अखिला-मन
धूलि से भरा स्वभाव-दुकूल
मृदुल-छवि पृथुल सरलपन;
स्वविस्मित से गुलाब के फूल
तुम्हीं सा था मेरा बचपन !—पन्त

आदि में सजल आकाश और किरणरञ्जित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है वह अपनी परिधि में प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नहीं स्पन्दन भी घेरना चाहता है, अतः भाव-चित्र ही रूप-गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अंकित हुए हैं इसी से उनमें एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

'वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी' में विधवा की दीप्त करुणा, 'चला आ रहा मौन धैर्य सा' में मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, 'वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं' में श्रद्धा की व्यथाजनित जड़ता आदि इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतों के भाव में 'संग में पावन गंगा-स्नान' की पवित्रता और रूप में 'गूढ़ रहस्य बना साकार' की व्यापकता आ गई।

नारी का चित्र मानो स्वयं प्रकृति का चित्र है—

वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश सा स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
चरणों में थी गतिभरी ताल !—प्रसाद

तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ हास
सृष्टि के उर की साँस !—पन्त

वह कामायनी जगत की
मङ्गलकामना अकेली

में जो मङ्गलमयी शक्ति है उसके सौन्दर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, श्वासों में
पारिजात-कानन खिलता

और इस सौन्दर्य को संकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र,
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल-पात्र !

इस विकृति के कारण की ओर संकेत भी स्वाभाविक है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की !—प्रसाद

छाया-युग के भावगत सर्ववाद ने नारी-सौन्दर्य के प्रति कवि की दृष्टि में वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिससे

सजल शिशिर-धौत पुष्प
देखता है एकटक किरण-कुमारी को !—निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ; क्योंकि उस जागृति के सूत्रधार व्यावहारिक धरातल पर ही नहीं जीवन की सूक्ष्म व्यापकता में भी नारी के महत्त्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरान्त भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खड़ी हुई तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भावगत चित्रण कहाँ तक उपयुक्त था यह प्रश्न भी सम्भव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में उस समय तक बहुत से आन्दोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमारेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत् में जैसी मुक्ति दी उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखते-देखते वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौन्दर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली संकीर्णता धो डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्वाभाविक थी इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और संस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम संघर्ष काल में भी पुरुष अपने पार्श्व में खड़ी नारी

की रूपरेखा प्रकृति में देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक धरातल पर ठहरने में समर्थ हो सका तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। सारतः यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन में अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव में नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पड़ा पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छायायुग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो पर उसकी शक्ति ने पुरुष की वासना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का उद्दाम यथार्थवादी पुरुष उस पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौन्दर्य में ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौन्दर्य को इत्तिवृत्ति बनाकर कहने का प्रयास नहीं करता। विशेषतः उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है जब बाह्य विषमताएँ पार कर आन्तरिक एकता स्पष्ट करना ही लक्ष्य रहे। जिन कारणों से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओं से मुक्त करके उसमें सामञ्जस्य की खोज की उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ में बाँधकर काव्य में स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नहीं, क्योंकि हमारे काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश ऐसी अभिव्यक्तियों पर आश्रित है। वेदगीतों की एक बहुत बड़ी संख्या आत्मबोध और स्वानुभूत उल्लास-विषाद को स्वीकृति देती है। संस्कृत और प्राकृत काव्यों में वे रचनाएँ अशेष

माधुर्य भरी हैं जिनमें दृश्य चित्रों के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये हैं। निर्गुण काव्य में आदि से अन्त तक स्वानुभूत मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तों के गीति-काव्य में सुख-दुःख संयोग-वियोग आशा-निराशा आदि ने जो मर्मस्पर्शिता पाई है उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जायगा। सब प्रकार की अलंकारिता से शून्य सरल लोक-गीतों में जो अन्तर्तम तक प्रवेश कर जानेवाली भावतीव्रता है वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहता है, अतः शैली का कुछ संकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्त्वचिन्तन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सब ने ऐसी शैली का प्रयोग किया है जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुँचा सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियों में अन्तर है परन्तु यह अन्तर रूपगत है तत्त्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक, ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओं से सम्बन्ध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नहीं। विशेषतः प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण

के प्रति इतना सजग संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, उसके ज्ञान और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।

प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले रुपहले रङ्गों से रँग दिया था वे तब से आज तक धुल नहीं सके। सभ्यता के आदिकाल में ही यहाँ के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियों में कितने चटकीले रङ्ग उतर आये थे इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएँ देती हैं।

परमतत्त्व हिरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है अग्नि हिरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुन्धरा आदि संज्ञाओं में जगमगाती है। भाषा का सम्पूर्ण कोष स्वर्ण-रजत के रङ्गों से उद्भासित और असंख्य रूपों से समृद्धि है।

इस समृद्धि का श्रेय यहीं की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जमे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की संज्ञा देने की भूल नहीं करेगा, बर्फ़ीली ठण्ढी धरती को कोई वसुन्धरा कहकर पुलकित न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओं का क्रम अटूट रहा है। जब तपोवनवासी आदि कवि 'शालयः कनकप्रभा' कहकर धान की बाली का परिचय देता है तब कालिदास जैसे कवियों की समृद्ध कल्पना के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है। जब निर्गुण का उपासक फ़क़ीर 'रवि ससि नखत दिपैं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।' कहकर अपने अरूप का ऐश्वर्य प्रकट करता है तब सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का यह ऐश्वर्य लोकगीतों में भी ऐसा ही निरन्तर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आँसू को मोती के समान माना है पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है 'मोती ढरकैं जब लालन रोवै फुलझरियन जैसी किलकनियाँ।' मोती ढुलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलझड़ियों जैसी उसकी किलकारियाँ हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नहीं जिसमें ग्रामवधू सोने के थाल में भोजन परोसकर और सोने की झारी में गंगाजल भरकर अपने पति का सत्कार नहीं करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो संस्कार है वह किसी प्रकार भी विदेशीय नहीं।

आज की दरिद्रता हमें अपनी धरती या प्रकृति से नहीं मिली; हमारी दुर्बलता का अभिशाप है, अतः काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है तब कल्पना में सूक्ष्म रेखाओं का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌गीथ है, अतः कल्पनाएँ बहुरंगी और विविधरूपी हैं। पर वैभव की दृष्टि से वह आज के यथार्थ के कितने निकट है यह तब प्रकट होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।

—कामायनी

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

मरकत-डिब्बे सा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन ।—ग्राम्या

छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रखती है। वैदिक काल ही में एक ओर आनन्द-उल्लास की उपासना होती थी और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ-सम्बन्धी पशुबलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे विकास पाकर जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों को रूपरेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित, संसार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जायगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यों में से एक को करुण-भाव से ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने संघर्ष के अन्त में करुण-भाव ही में चरम परिणति पा लेता है। संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों में भी कवि अपने इस संस्कार को नहीं छोड़ता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नहीं मानता और कालिदास के काव्यों में करुणा श्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुःखद अन्त में समाप्त होनेवाला रघुवंश, जीवन के सब उल्लास-उमंगों की

राज्य पर दुष्यन्त से साक्षात् करनेवाली शकुन्तला यदि करुण भाव न जगा सके तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण हैं। जहाँ भी चिन्तन-प्रणाली इतनी विकसित और जीवन की एकता का भावन इतना सामान्य होगा वहाँ इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी तब उसका बाह्य अन्तर पग पग पर एक असन्तोष को जन्म देता रहेगा।

परम तत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुण वादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सम्बद्ध रहेगी।

करुणा का रंग ऐसा है जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल द्युति दे देता है; सम्भवतः इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलम्भ शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण-भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेन्दु युग में भी हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश, समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विषाद को विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुँच जाते हैं।

प्रिय-प्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला का नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्रगीतों और सामाजिक चित्रण में-व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुण-भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में एकरस जान पड़ती है।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।

समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आन्तरिक विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में उसका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देनेवाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर थकने लगे।

कामायनी में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामञ्जस्य लाने का जो चित्र है वह कवि का स्वभावगत संस्कार है क्षणिक

उत्तेजना नहीं। इस सामञ्जस्य का संकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा।

करुण-भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय संस्कार के कारण है पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
वृक्ष पत्र की मधुछाया में,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
अमृत सदृश नश्वर काया में?

× × ×

जिससे कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे!—प्रसाद

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु-कन।

× × ×

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है!—पन्त।

× × ×

मेरा आकुल क्रन्दन
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर

—निराला

इस विषाद में व्यक्तिगत दुःखों का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर संकेत है जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामञ्जस्य भाव को भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया है पर वे इसे पूर्णतः भूल नहीं सके।

व्यक्तिगत सुखदुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं पर वे छायायुग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामयिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य सम्बन्धी साधनापद्धति को अपनाना सहज नहीं था; पर सामञ्जस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर करुणा

का ऐसा अन्तरिक्ष बुन दिया जिसकी छाया में दुःख ही नहीं सुख के भी सब रङ्ग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की करुणा में एक रहस्यमयी स्थिति पाई। जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्यापक है वैसे ही राष्ट्रतत्त्व की मुक्ति में अपनी मुक्ति चाहनेवाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग में एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हो जातीं, गौण रूप से विकास पाती रहती हैं। छायायुग में भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत सी प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकीं जिनमें से अनेक अब अधिक स्पष्ट रूप में अपना परिचय दे रही हैं। स्वयं छायावाद तो करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है। इस रूप में उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नहीं, वरन् आभार ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छन्द, कथन की विशेष शैली आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगों का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान से तो यथार्थोन्मुख विचारधारा का असहयोग नहीं, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौन्दर्य पर आघात करना चाहती है जो इस देश की सांस्कृतिक परम्परा की धरोहर है। जब तक इस आकाश में अनन्त रङ्ग है, इस पृथ्वी पर अनन्त सौन्दर्य है, जब तक यहाँ की ग्रामीणा, कोकिल काग से संदेश भेजना नहीं भूलती—किसान, चैती

चाँदनी और आषाढ़ की घटाओं को मूर्त्तिमत्ता देना नहीं छोड़ता तब तक काव्य में भी यह प्रवृत्ति रहेगी। छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ में नहीं, क्योंकि वह इस धरती और आकाश से बँधा है।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से हमारे यहाँ का घोर अशिक्षित भी विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि दर्शन जैसे गूढ़ विषय से लेकर, श्रम जैसे सरल विषय तक उसकी अच्छी पहुँच है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के पीछे पिछले कई हज़ार वर्ष का इतिहास है, अतः इस मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हों तो आश्चर्य नहीं।

पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों के सम्बन्ध में यदि आज का यथार्थवादी, इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दों को स्मरण रख सके तो सम्भवतः वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

"We must retain the beautiful, take it as an example, hold on to it even though it is old. Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new? That is nonsense, sheer nonsense. There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west."

(Lenin-the man)

(हमें, जो सुन्दर है उसे ग्रहण करना, आदर्श के रूप में स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन

होने के कारण वास्तविक सौन्दर्य से विरक्ति क्यों और नवीन के विकास के लिए उसे सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यों ? जिसका अनुशासन मानना ही होगा ऐसे देवता के समान नवीनता की पूजा किस लिए ? यह तो अर्थहीन है—नितान्त अर्थहीन ! इस प्रवृत्ति में कला की रूढ़िगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला-रूढ़ियों के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी संस्कृति को महत्त्व देकर उसी 'वास्तविक सौन्दर्य' की ओर सङ्केत करता है—"मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं जितना हमारी संस्कृति का। इस देश की संस्कृतिगङ्गा में अनेक संस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। इन सबका कोई सन्देश हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनावें। जीवन जड़ दीवारों से विभक्त नहीं किया जा सकता।......समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव है। हमारी अन्तःस्थ सुप्त भावनाओं को जाग्रत करने का सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। अपनी अपूर्णता महसूस करना प्रगति का पहला क़दम है।"

—महात्मा गांधी

हम आँधी तूफ़ान के ऐसे ध्वंसमय युग के बीच में हैं जिसे पार कर लेने पर जीवन के सर्वतोन्मुख निर्माण का कार्य स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य हो उठेगा। निर्माण के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियों के स्रष्टा नहीं बन सकते, केवल

नवीन परिस्थितियों में उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जायगा। करुणा, प्रेम, द्वेष, क्रोध आदि मूल भावों पर सभी मनुष्यों का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावों का विकास मानव ही नहीं उसे घेरनेवाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है। इसी कारण किसी मनुष्य-समूह में चिन्तनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी में युद्ध-प्रेम ही प्रधान जान पड़ेगा, किसी में व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी, और किसी में भावुक कलाकार ही सुलभ होंगे। बाह्य परिस्थितियों के कारण बहुत सी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं, बहुत सी अस्वस्थ, प्रधानता पाने लगती हैं। जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्हीं प्रवृत्तियों की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए ऐसे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे जो सम्पूर्ण अतीत को विक्षिप्तों की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नहीं पा लेते।

साहित्य, काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास हैं, अतः कलाकार इन प्रवृत्तियों को अपने युगविशेष की सम्पत्ति समझकर और अतीत के सारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों को भूलकर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता।

पिछले अनेक वर्षों की विषम परिस्थितियों ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे छोटे खण्डों में विभाजित करता रहे तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामञ्जस्य की ओर चलना है, अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ, उनका सांस्कृतिक मूल्य, उन मूल्यों का आज की परिस्थिति

में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से ही कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नहीं हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति में सरल सौन्दर्य ही नहीं, मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं माताओं के
वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुस्कान!—निराला।

रहस्यवाद

जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिय गया।

रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीन काल में परा या ब्रह्मविद्या में इसका अंकुर मिलता अवश्य है परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ? वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि या आत्मा की लौकिकी पारलौकिकी सत्ता-विषयक मतान्तर मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, हृदय से कम, क्योंकि वही तो शुद्ध-बुद्ध चेतन

को विकारों में लपेट रखने का एकमात्र साधन है। योग का रहस्यवाद, इन्द्रियों को पूर्णतः वश में करके आत्मा का कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है जहाँ वह शुद्ध चेतन से एकाकार हो जाता है।

सूफ़ीमत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेम-जनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के समकक्ष रखा जा सकता है और हमारे यहाँ कबीर का रहस्यवाद यौगिक क्रियाओं से युक्त होने के कारण योग परन्तु आत्मा और परमात्मा के मानवीय प्रेम-सम्बन्ध के कारण वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणयनिवेदन से भिन्न नहीं।

आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में भी डाल दिया है, परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहारलोक में भी गन्तव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपार्थिव पार्थिवता और साधना की न्यूनता ने सहज ही सबको

अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अतः यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा हो तो आश्चर्य की बात नहीं। हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बङ्गाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञानक्षेत्र में एक सिद्धान्त मात्र थी वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राणप्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफ़ी सन्तों के प्रेम में अतिरञ्जित होकर ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विषम शिलाओं से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है यह अभी कहना कठिन होगा! इतना निश्चित है कि इस वस्तुवादप्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुन्दरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग में मनुष्य भावपक्ष की सहायता से, अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटियाँ क्यों प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पीठिका क्यों खोजता फिरे और फिर परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत् में क्यों प्रतिष्ठित करे यह सभी प्रश्न सामयिक हैं। पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा ऐसा सम्भव नहीं

जान पड़ता, क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नों की एक बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणतः अन्य व्यक्तियों के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनों ही में है। एक में वह अपनी इकाई में पूर्ण है और दूसरी में वह अपनी इकाई से बाह्य जगत् की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अन्तर्जगत् का विकास ऐसा होना आवश्यक है जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्त्वों की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नहीं जो जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है दिशा नहीं।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपान्तर मान सकते हैं जो एक ही क्षण में हमारे सम्पूर्ण अन्तर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठता है; पर बुद्धि के दिशानिर्देश के अभाव में इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमाएँ खोज लेना कठिन हो जाता है, अतः दोनों का उचित मात्रा में सन्तुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नहीं प्रत्येक कलाकार को, अपने व्यष्टिगत जीवन को गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देनेवाली अनुभूतियों को भावना के

साँचे में ढालना पड़ा है। हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तु-वाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिर संवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं, इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष-रूप-भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबन्धुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्त्व नहीं रहता। इस कथन में अध्यात्म को बलात् लोकसंग्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में ही सफल है परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव होगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो परन्तु उनकी मिलनविरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यञ्जना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लाई थी? हम चाहे आध्यात्मिक संकेतों से अपरिचित हों परन्तु उनकी लौकिक कला-रूप सप्राणता से हमारा पूर्ण

परिचय है। कबीर की ऐकान्तिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

वास्तव में लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियाँ लोक-विरोधिनी नहीं होतीं; परन्तु ऐकान्तिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए वे व्यक्ति की कलात्मक संवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि यह अनुभूतियाँ हमारे ज्ञानक्षेत्र में कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में परिवर्तित न हो जावें, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलनेवाली पृष्ठभूमि पर धारणाओं की रूढ़ि मात्र न बन जावें तो भावपक्ष में प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनों को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती हैं।

हमारी अन्तःशक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी, अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते रहते हैं जिनमें हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अन्यथा हम सभी देशों के समृद्ध काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप में इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव में दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त और बाह्य जगत् की अमूर्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती तब उसका कारण विषय-विशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त और अमूर्त जगत् एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नहीं इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य के रङ्ग और रूपों के रेखाजाल से बना चित्र यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त का दर्शन और अमूर्त का भावन सहज कर देता है तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा बुझाकर विवाद करना कि उसने कूप क्यों खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था, क्योंकि उसने धरती के ही अन्तर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्शसमर्पित व्यक्तियों में संसार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेंगे, सौन्दर्य से तादात्म्य के इच्छुकों में श्रेष्ठ कलाकारों की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमें साधक और भक्त दिये हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज सम्भव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा, एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। और हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामञ्जस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति सम्भव है, जो इष्ट नहीं इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्य-भाव-मूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नहीं। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान सम्भव नहीं पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनन्त रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है।

यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत् में भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अन्तर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट

अपने आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके सन्तोष का अनुभव करता है वह सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि से सबको विशिष्ट जान पड़े ऐसा कोई नियम नहीं। प्रायः एक के अटूट स्नेह, भक्ति आदि का आधार दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप में उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अन्तर्जगत् में जो कुछ भव्य छिपायें हुए है वह जिसमें प्रतिबिम्बित जान पड़ता है उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्म-निवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पण से भिन्न है, क्योंकि लालसा अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की साकारता नहीं देखती, किसी स्थूल अभाव की पूर्त्ति पर केन्द्रित रहती है।

व्यावहारिक धरातल पर भी जिन व्यक्तियों का आत्मनिवेदन एकरस और जीवनव्यापी रह सका है उनके अन्तर्जगत् और बाह्याधार में, ऐसा ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव मिलता है और यह भाव अन्तर्जगत् के विकास के साथ तब तक विकसित होता रहता है जब तक बाह्याधार में अन्तर्जगत् के विरोधी तत्त्व न मिलने लगें।

अवश्य ही सूक्ष्म जगत् के आत्मनिवेदन को स्थूल जगत् के आत्म-समर्पण के साम्य से समझना कठिन होगा। पर यह मान लेने पर कि मनुष्य का आत्मनिवेदन उसी के अन्तर्जगत् की प्रतिकृति खोजता है, सूक्ष्म का प्रश्न बहुत दुर्बोध नहीं रहता। रहस्यद्रष्टा जब खण्ड रूपों से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है तब उसके लिए अपने अन्तर्जगत् के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और बाह्य जगत्

की सीमा की भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता में मिटा देने की इच्छा उसे पूर्ण आत्मदान की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्यभाव न होता तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बन जाता, भावभूमि पर आधार आधेय की एकता नहीं।

प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य में रूपप्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुणप्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।

जीवन के स्थूल धरातल पर कर्मनिष्ठ ऋषि जब 'अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे यशसं वीरवत्तमम्' (प्रतिदिन मनुष्य अग्नि के द्वारा पुष्टिदायक, कीर्तिजनक, वीर पुरुषों से युक्त समृद्धि प्राप्त करता है) कहता है तब हमें आश्चर्य नहीं होता। पर जब यही बोध आकाश के अस्तव्यस्त रङ्गों में नारी का रूप-दर्शन बनकर उपस्थित होता है तब हम उसकी सौन्दर्य-दृष्टि पर विस्मित हुए बिना नहीं रहते।

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥

ऋ० ३-६१-२

(हे कमनीय कान्तिवाली! अपने चन्द्ररथ पर, सत्य को प्रसारित करती हुई आभासित हो। उत्तम नियन्त्रित हिरण्यवर्ण किरणाश्व तुझे दूर-दूर तक पहुँचावें।)

बादलों को लानेवाले मरुद्गण की उपयोगिता जान लेनेवाला ऋषि जब उन्हें वीर-रूप में उपस्थित करता है तब हम उसके प्रकृति में चेतना के आरोप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥

ऋ० ५–५४–११

(स्कन्ध पर भाले, पैरों में पदत्राण, वक्ष पर सुवर्णालङ्कार युक्त और रथशोभी मरुतों के हाथों में अग्नि के समान कान्तिमत् विद्युत् है और वे सुवर्ण-खचित शिरस्त्राण धारण किये हैं।)

रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।

ऋ० ५–८३–३

(विद्युत् के कशाघात से बादल रूपी अश्वों को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गये हैं।)

इस प्रकार रूपों की प्रतिष्ठा और व्यापारों की योजना के उपरान्त वे मनीषी अखण्ड रूप और व्यापक जीवन-धर्म तक जा पहुँचते हैं।

इसके उपरान्त हमें उनकी रहस्यानुभूति और उससे उत्पन्न जिस आत्मनिवेदन का परिचय मिलता है उसमें न रूपों की समष्टि है न व्यापारों की योजना, प्रत्युत् वह अनुभूति किसी अव्यक्त चेतन से वैयक्तिक तादात्म्य की इच्छा से सम्बन्ध रखती है।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥

ऋ० ७-८८-३

[मैं और मेरे वरणीय देव दोनों जब नाव पर चढ़कर उसे समुद्र के बीच में ले गये तब जल के ऊपर सुखशोभा प्राप्त करते हुए झूले में (आन्दोलित तरङ्गों में) झूले ।]

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित् ।

ऋ० ७-८८-५

(हे वरणीय स्वामी ! हम दोनों का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्य-भाव कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोजता हूँ ।)

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।

ऋ० ७-८६-२

(कब मैं अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा, उसके साथ साक्षात् संवाद करूँगा और कब मैं उस वरण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा ।)

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

ऋ० ७-८६-३

(हे वरणीय ! मैं दर्शनाकांक्षी होकर तुझसे अपना वह दोष पूछता हूँ जिसके कारण मैं यहाँ बँधा हूँ । मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तेरे समीप आया हूँ ।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अङ्कुर ने दर्शन और काव्य में जैसी विविधता पाई है वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है वैसे-वैसे एक चिन्तन-प्रधान जिज्ञासा अमरवेलि के समान फैलने लगती है, अतः कवि प्रकृति के विविध रूपों पर चेतना का आरोप करके ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह इस सम्बन्ध में क्या और क्यों भी जानना चाहता है।

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० १०—७—६

(विपरीत रूपवाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं? ये सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है?)

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० १०—७—४

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्तमान् है? यह पवन कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर बहता है? यह सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं उस आश्रय को बताओ। वह कौन सा पदार्थ है?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी, अतः उसकी सर्ववाद और आत्मवाद सम्बन्धी दो शाखाएँ हो गईं।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व० १०-७-३३

(सूर्य और पुनः-पुनः नवीन रूप में उदित होनेवाला चन्द्रमा जिसकी दो आँखों के समान हैं, जो अग्नि को अपने मुख के समान बनाये हुए है, उस परम तत्त्व को नमन है।)

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

अथर्व० १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण हैं, अन्तरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है उस परम शक्ति को नमन है।)

इसी की छाया हमें गीता के सर्ववाद में मिलती है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥

(तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नहीं है, तुम अनन्त शक्ति-युक्त और अनन्त भुजाओंवाले हो, सूर्य-चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं, दीप्त अग्नि

मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करनेवाले! मैं तुम्हें देख रहा हूँ।)

यह सर्ववाद अधिक भावगत होकर भारतीय काव्य में प्रकृति और जीवन को विविधता में एकता देता रहा है।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति में दिव्य शक्तियों का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव-जीवन के पग सं पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है, हम मानव की बाह्य रूपरेखा के समान उसके यथार्थ सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष देखते हैं और हृदय की धड़कन के समान उसके गूढ़ स्पन्दन का भी अनुभव करते हैं।

संस्कृतकाव्यों में प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव-सुख दुःखों के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता माँगना इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप हैं।

शकुन्तला के साथ पलनेवाले वृक्ष-लता क्यों इतने सजीव हैं कि वह उनसे बिदा माँगे बिना पति के घर भी नहीं जा सकती; उत्तररामचरित की नदियाँ क्यों इतनी सहानुभूतिशीला हैं कि एकाकिनी सीता के लिए सखियाँ बन जाती हैं, यक्ष के निकट मेघ क्यों इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ़ व्यथा का वाहक बना लेता है आदि प्रश्नों का उत्तर उसी प्रवृत्ति में मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है।

चिन्तन की ओर बढ़नेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का कम से कम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन।

यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्यन श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन

अथर्व० ११-४-२१

[यह हंस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (संसार से) ऊपर उठाकर भी दूसरा जल में स्थिर रखता है। यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप में पूर्ण असंग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो, न दिन हो, न कभी उषःकाल हो सके।]

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।

ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

अथर्व० १०-८-२५

(एक वस्तु जो बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नहीं के समान दिखाई देती है; तब जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है वह मुझे प्रिय है।)

क्रमशः इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम-भाव के लिए कहीं स्थान नहीं रहा—

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व० १०-८-३८

(मैं उस व्यापक सूत्र को जानता हूँ जिसमें यह प्रजा गुँथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूँ जो सबसे महत् है)

परन्तु तत्त्वदर्शक इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधता में चिर-नवीन देखता है।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो·अन्यस्य रूपयोः॥

अथर्व० १०–८–२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है पर वह तो आज भी नया है, जैसे दिन-रात बराबर नये-नये उत्पन्न होते हैं, पर रूपों में एक दूसरे के समान होते हैं।)

यही भाव उपनिषदों में मिलता है।

'ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्यं स उ श्वः एतद्वैतत्।—का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति हमारा हृदय करता है तब वह रूपों ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओं की सृष्टि स्वाभाविक है; क्योंकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौन्दर्य की विभिन्नता में अनुवादित करने का लक्ष्य रखती हैं। परन्तु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा में घेर लेता है तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के सहारे रूप-समष्टि की एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरस कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चिन्तन में सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने लगी। वह खो नहीं गई, क्योंकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है।

ब्रह्म और जगत् की सापेक्षता आत्मा और परमात्मा की एकता आदि ने दर्शन की विविध शैलियों को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से थके हुए कुछ मनीषियों ने चिन्तनपद्धति के द्वारा ही आत्मा का चरम विकास सम्भव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा जो कुछ योगक्रियाओं और अभ्यासों द्वारा आत्मा को दिव्य-शक्ति-सम्पन्न बनाने में विश्वास रखता था—दूसरे अर्थ में वह कर्मकाण्ड के रूप में परिवर्तन चाहता था, उसका अभाव नहीं। एक कर्म-पद्धति भौतिक सिद्धियों के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियों के लिए। इसी से अन्त में साधनात्मक रहस्यवाद वज्रयानी, शैव, तान्त्रिक आदि सम्प्रदायों में ऐसे भौतिक धरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

अष्टाचक्र नवद्वारा देवानां पूरयोद्धया।

(अष्ट चक्र नव द्वारोंवाली यह इन्द्रियगणों की अजेय पुरी है।)

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।—अथर्व

(नव द्वारवाला यह श्वेत कमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणों से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पंक्तियों में शरीर-यन्त्र की जो रहस्यात्मकता वर्णित है उसने ऐसा विस्तार पाया जो आत्मा को सबसे ऊपर परमव्योम तक पहुँचाने का साधन भी हुआ और सबसे नीचे पाताल से बाँध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन पक्ष के प्रहरी हमारे चिन्तनशील मनीषी रहे। उपनिषदों और विशेषतः वेदान्त ने आत्मा और परमतत्त्व के सम्बन्ध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिषद् हमारे गद्य और पद्य के बीच में स्थिति रखते हैं।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी संकेतात्मक शैली, अन्तर्जगत् में उद्भासित सत्व को स्पष्ट करनेवाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताएँ उन्हें काव्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देंगी और उनका तत्त्वचिन्तन, उनके सिद्धान्त सम्बन्धी संवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हें गद्य की परिधि में रक्खेंगे।

कर्म को प्रधानता देनेवालों के विपरीत तत्त्वचिन्तकों ने अन्तःकरण-शुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुँचानेवाला साधन ठहाराया—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्यु पासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।

[हे सौम्य ! उपनिषद् (ज्ञान) महास्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना रूप तीक्ष्ण बाण चढ़ा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे खींचकर अक्षर लक्ष्य का वेध कर।]

रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचारधारा में मिल जाते हैं। रहस्यभावना के लिए द्वैत की स्थिति

भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के विना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।

द्वैत के लिए तत्त्वचिन्तक अपनी सांकेतिक शैली में कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।— मु० उ०

(साथ रहने और समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही तरु पर रहते हैं। उनमें एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है।)

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपों में व्यक्त की गई—

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।—छा० उ०

(वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।)

नेह नानास्ति किंचन।—क० उ०

(यहाँ नानारूप कुछ नहीं है।)

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदा।—वृ० उप०

(वह अन्य है, मैं अन्य हूँ। जो यह जानता है वह नहीं जानता।)

रहस्यवादियों के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा और परमात्मा की एकता सम्भव समझते हैं।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है उस वरण के द्वारा ही वह परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है ।]

इस एकता के उपरान्त आत्मा और ब्रह्म में अन्तर नहीं रहता । आत्मा अपनी उपाधियाँ छोड़कर परम सत्ता में वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

(जैसे निरन्तर बहती हुई सरिताएँ नाम रूप त्यागकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं ।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

(उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है । सारा संसार उसी के आलोक से आलोकित है ।)

उपर्युक्त पंक्तियाँ हमें कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल' का स्मरण करा देती हैं ।

वह परम सत्ता निकट होकर भी दूरी का भास देती है ।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च ।—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान् होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है ।)

जायसी ने 'पिय हिरदै मँह भेंट न होई' में जो कुछ व्यक्त किया था उसे बहुत पहले उपनिषद्काल का मनीषी भी कह चुका था। वेद का सर्ववाद भी उपनिषदों के चिन्तन में विशेष महत्त्व रखता है—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनेक रूपवाली नदियाँ प्रवाहित हैं।)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः।—मु०.उप०

(वही सत्य है। उसी ज्योतिर्मय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं जैसे प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिङ्ग।)

रहस्यवादियों ने परमतत्त्व और आत्मा के बीच में माधुर्यभाव-मूलक सम्बन्ध की स्थापना के लिए उन दोनों में पुरुष और नारी-भाव का आरोप किया है। इस कल्पना की स्थिति के लिए जो धरातल आवश्यक था वह तत्त्वचिन्तकों द्वारा निर्मित हुआ है। सांख्य ने जड़तत्त्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार-शून्य चेतन तत्त्व को पुरुष की संज्ञा दी है, अतः इन संज्ञाओं ही में इस प्रकार का अन्तर उत्पन्न हो गया जो पुरुष और नारीरूप की कल्पना सहज कर दे। जड़तत्त्व से उत्पन्न प्राणि-जगत् भी प्रजा और सृष्टि कहलाता रहा।

आत्मा अपने सीमित रूप में जड़ से बँधा है अतः प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थित होने लगा।

आत्मा को चिति के रूप में ग्रहण करनेवाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी संज्ञाओं का प्रयोग करने लगे।

इय कल्याण्यजरा मृत्यस्यामृता गृहे।—अथर्व

(यह कल्याणी कभी जीर्ण न होनेवाली और मरणशील शरीर में अमृता नित्य है।)

ऋग्वेद के मनीषी भी कहीं कहीं अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधू का प्रयोग करते रहे हैं।

इस सम्बन्ध में जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण हैं। जो सीमित है वही असीम में अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा। नदी समुद्र में मिलकर अथाह हो जाती है, परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक वह अपनी नाम रूप आदि सीमाएँ समुद्र को समर्पित न कर दे।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि परिचय छोड़कर पति का स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है। सगुण-भक्त द्वैत को लेकर

चलता है। एक सीमा दूसरी सीमा में अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। एक अपूर्ण व्यक्तित्व दूसरे पूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श का इच्छुक है। भक्त विवश सीमाबद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमाबद्ध हुआ है, पर हैं तो दोनों सीमाबद्ध ही। ऐसी स्थिति में उनके बीच में सभी मानवीय सम्बन्ध सम्भव हैं। पर माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध तो लौकिक प्रेम के बहुत समीप आ जाता है; क्योंकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप में प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियों में पूर्ण अभिव्यक्ति बन जाने की क्षमता रखता है।

दक्षिण की अन्दाल, उत्तर की मीरा, बङ्गाल के चैतन्य आदि में हमें कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते हैं। परन्तु स्थूल धरातल पर उतरकर यह माधुर्यभावमूलक उपासना हमें देवदासियों के विवश करुण जीवन और सम्प्रदायों में प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकी जो भक्ति की स्वच्छता में मलिन धब्बे जैसे लगते हैं।

भारतीय रहस्यभावना मूलतः बुद्धि और हृदय की संधि में स्थिति रखती है। एक से वह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की थाह लेती है। यह समन्वय उसके भावावेग को बुद्धि की सीमा नहीं तोड़ने देता और बुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नहीं बाँधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की आँधी नहीं वरन् ज्ञान के अनन्त आकाश के नीचे अजस्रप्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक बौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणों में थके स्वर में कहती है—अविज्ञातं

विजानताम् (जाननेवालों को वह ब्रह्म अज्ञात है) तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास भरे कण्ठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वयं वही हो।)

बौद्ध और जैन मतों पर भी उपनिषदों की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

वेदान्त का, अहंकार, मनस् और विज्ञान से शून्य आत्मन् उस आत्मा से भिन्न है जो इनकी समष्टि है। चरम विकास के उपरान्त आत्मन् की शून्य व्यापकता, बौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाती है जो विकास-क्रम के अन्त में बोधिसत्त्व (विकास-क्रम में बँधे जीव) को एक शून्य स्थिति में मुक्ति देता है। 'सर्वभूतहित' और 'मा हिंस्यात्' की भावना बुद्ध-मत की महामैत्री और महाकरुणा में इतना विस्तार पा गई कि वह चरम विकास तक पहुँचानेवाला साधन ही नहीं उसका लक्षण भी बन गई। अन्य मतों में करुणा परमतत्त्व के तादात्म्य का माध्यम मात्र है पर बुद्ध की विचारधारा में वह परमतत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परमतत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती, वरन् वह बोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का साधन और उसके चरमविकास का परिचय है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्त्व बुद्ध होता और निर्वाण तक पहुँचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुँचानेवाला यह भावजगत्, परमतत्त्व की व्यापकता में अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विचित्र साम्य रखता है।

बौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दुःख का कारण मानता है जो उपनिषदों में मिलनेवाली अविद्या और काम के रूपान्तर हैं। अन्तःकरण की शुद्धि को प्रधानता देनेवाले मनीषियों के समान बुद्ध ने भी कर्म-काण्ड को महत्त्व नहीं दिया पर बुद्ध-मत का साधना-क्रम योग के साधना-क्रम से भिन्न नहीं रहा। ज्ञान के व्यापक स्पर्श को खोकर बौद्ध धर्म में भी एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया जो साधना-प्राप्त सिद्धियों का प्रयोग भौतिक सुख-भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया और जीव और ब्रह्म की एकता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विकास के उपरान्त वे शून्य या स्थिति के अभाव को न मानकर उसके व्यापक भाव को मानते हैं। जगत् में सब जीवों में ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरान्त जीव किसी परमतत्त्व से तादात्म्य न करके स्वयं असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है।

जैन धर्म का साधना-क्रम अन्तःकरण की शुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है।

नाम रूप में सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता में विश्वास करनेवाले इन मतों और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अंश माननेवाले और उसमें अपनी लय को चरम विकास समझनेवाले रहस्यवादियों में जो समानता है उसे साम्प्रदायिक विद्वेषों ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि में घिरा है, दूसरा, धर्महीन दर्शन की परिभाषा में बँधा है

पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिन्तन-परम्परा का पता देते हैं। जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता, सब जीवों के प्रति स्नेह, करुणा और मैत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दुःख के प्रतीक स्वर्ग-नरक में अनास्था, साधना का अन्तर्मुखी क्रम आदि भारतीय तत्त्वचिन्तन की अपनी विशेषतायें हैं।

हमारे तत्त्वचिन्तकों की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्मतम महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर लाती है जो जीवन की स्थूल धरती पर बरसकर ही सार्थकता पाता है। हमारे यहाँ नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता है जो कल्याण की खोज में किसी भी बाधा को नहीं ठहरने देना चाहती, अतः वह जीवन सम्बन्धी आस्था से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है।

पश्चिम में प्लोटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्यभावना को जन्म और विकास दिया वह ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव में स्थिति रखती है। दूसरे शब्दों में जगत् का तत्त्वरूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छायारूप जगत्। ऐसी स्थिति में आत्मा परमात्मा की अद्वैत स्थिति का चरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना-प्रधान रहस्यभाव उत्पन्न हुआ उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमाण्टिक काव्य तक मिलता है। इस्लाम और ईसाई मतों पर भी इसकी छाया है, पर उन पर भारतीय रहस्यचिन्तन का भी कम प्रभाव नहीं।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेष स्थिति रखता है वह धर्म की परिधि में उत्पन्न हुआ और वहीं रहा, अतः स्वयं एक सम्प्रदाय के भीतर

सम्प्रदाय बन गया। धर्म और रहस्यभावना में विरोध न होने पर भी वे एक नहीं हो सकते। धर्म बाह्य जीवन में सामञ्जस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धान्त भी देता है और सबके आरणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्व देकर हमारे विश्वास में प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अथ वहाँ से होता है जहाँ धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय में, सामञ्जस्यमूलक परमतत्त्व की अनुभूति करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने प्रशान्त आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धता देती है। रहस्यवादी के लिए नरक, स्वर्ग, मृत्यु, अमरता, परलोक, पुर्नजन्म आदि का कोई महत्त्व नहीं। उसकी स्थिति में केवल इतना ही परिवर्तन सम्भव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्व में खो सके।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लोटिनस (Plotinus) के उपरान्त डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्व पाते हैं, जिसने मध्ययुग के समस्त रहस्यचिन्तन को प्रभावित किया है। यह रहस्यवादी होने के साथ साथ ईसाईधर्म का विश्वासी अनुयायी भी था, अतः इसकी चिन्तन-पद्धति दोनों को समान महत्त्व देती चलती है।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कट्टरता ने मनुष्य में किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नहीं स्वीकार किया था जो परमात्मा से एक हो सके। डायोनिसियस भारतीय ऋषियों के समान ही मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देखता है। यह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा, अतः दोनों का तादात्म्य सम्भव है। परमात्मा को आत्मा से

एक कर देने का साधन प्रेम है। डायोनिसियस कहता है "It is the nature of love to change a man into which he loves." (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु में बदल देता है जिससे वह स्नेह करता है।)

परमात्मा के सम्बन्ध में उसका मत है "if any one sees God and understands what he sees he has not seen God at all." (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्ट विषय का ज्ञान है तब उसने उसे देखा ही नहीं।) हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते हैं—'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' (जिसको ज्ञात नहीं उसको ज्ञात है जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता।)

स्वर्ग-नरक के सम्बन्ध में उसके जो विचार हैं वे भी रहस्यवादियों की विचार-परम्परा से साम्य रखते हैं "To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven." (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है।)

एकहार्ट (Eckhart) भी आत्मा परमात्मा की एकता और इस आत्मा में, तादात्म्य सहज करनेवाली शक्ति की स्थिति मानता है—There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God." (आत्मा की जागृति में परमात्मा और आत्मा में अन्तर नहीं रहता।)

माधुर्यभाव पर आश्रित और धर्म-विशेष में सीमित इस रहस्यावाद ने एक ऐसी उपासना-पद्धति को जन्म दिया जिसमें उपासक, वधू के रूप में

आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु ईसा से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इस अध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक और उपासिकाओं के लिए जो साधना-क्रम निश्चित था उसका अभ्यास मठों के एकान्त में ही सम्भव था। यह रहस्योपासना हमारी माधुर्यभावमूलक सगुणोपासना के निकट है। महात्मा ईसा की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नहीं और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपासक भक्त ही कहे जायँगे। आराध्य जब नाम-रूप से बँधकर एक निश्चित स्थिति पा गया तब रहस्य का प्रश्न ही नहीं रहा।

पश्चिम के काव्य में मिलनेवाली रहस्यभावना उस प्रकृतिवाद से सम्बन्ध रखती है जिसमें प्रकृति का प्रत्येक अङ्ग सजीव और स्वतन्त्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप में सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नहीं है; क्योंकि रहस्य में प्रकृति की खण्डशः सजीवता एक व्यापक परम तत्त्व की अखण्ड सजीवता पर आश्रित रहती है जो आत्मा का प्रेय है। सजीव जन्तुओं का समूह शरीर नहीं कहा जायगा पर जब अनेक अङ्ग एक की सजीवता में सजीव हों तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति में रहता है। ब्लेक और वर्ड्सवर्थ जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी हैं और दूसरी ओर जगत् और ब्रह्म के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्यभावना में परम तत्त्व से आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नहीं और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेमभाव की स्थिति भी कठिन है।

सूफ़ियों का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्यचिन्तन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेश्वरवाद में भाव की क्रीड़ा के लिए स्थान नहीं। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नहीं कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अतः हृदय का भावावेग सहस्र-सहस्र धाराओं में फैलकर मानवीय सम्बन्धों को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य में मिलन-विरह सम्बन्धी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चिन्तनपद्धति के समान वहाँ तत्त्वचिन्तन का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं हुआ था जिसमें मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छन्द छोड़ सके। संसार और उसमें व्याप्त सत्ता के सम्बन्ध में कोई जिज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होने पर उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती थीं। धर्म की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर शासन होने के कारण ऐसी अनुभूतियाँ वहाँ प्रवेश नहीं पा सकती थीं और लौकिक प्रेम की संकीर्ण परिधि में स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति सम्भव नहीं रहती थी।

हमारे कर्मकाण्ड की एकरसता के विरोध में जैसे भावात्मक ज्ञानवाद का विकास हुआ, धर्मगत शुष्कता की प्रतिक्रिया में वैसे ही सूफ़ियों के दर्शनात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वेदान्त ने उन्हें बहुत प्रभावित किया, क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनों के लिए ऐसा क्षितिज खोल देता है जिसमें व्यापकता भी विविध रङ्गमयी है।

यहाँ के तत्त्वचिन्तकों के समान सूफ़ी भी हक़, बन्दा और शैतान के रूप में परमात्मा, आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करते हैं।

'तद्‌भावंगतेन चेतसा' के द्वारा मनीषियों ने जो संकेत किया है उसको सूफ़ियों में अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रेमतत्त्व के द्वारा सूफ़ी परम आराध्य से एक हो सकता है। 'स यो ह वै तत्परं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (जो निश्चयपूर्वक उस ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हमें सूफ़ी अत्तार के शब्दों में मिलती है—"प्रेम में मैं और तू नहीं रहते। अहं प्रेम के आधार में लय हो जाता है।"

इसी प्रकार शब्सतरी का कथन है—"मैं और तू में कोई अन्तर नहीं। एकता में किसी प्रकार का अन्तर होता ही नहीं है। जिसके हृदय से द्वैत निकल गया उसकी आत्मा से अहम् ब्रह्मास्मि की ध्वनि गूँजने लगती है"। परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियों के समान ही रूमी वियोग के सम्बन्ध में कहता है "जो पुरुष अपने मूल तत्त्व से छूट गया है उसको उससे पुनर्मिलन को चिन्ता रहती है।"

'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' (यह जो हृदय के भीतर का आकाश है वह (ब्रह्म) उसी में सोता है) को तत्त्वतः ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना-विधान की आवश्यकता नहीं रही। पर अन्तःशुद्धि के लिए दूसरी अन्तर्मुखी साधना-पद्धति का विकास होना अनिवार्य हो गया। योग के साधनात्मक रहस्यवाद ने सूफ़ियों की साधना-पद्धति को

विशेष रूप-रेखा दी है। तुरीयावस्था तक पहुँचने के पहले आत्मा की अवस्थाएँ, समाधि तक पहुँचने के पूर्व साधना का आरोह-क्रम आदि का जैसा रहस्यात्मक विस्तार योग में हुआ है उसी को सूफ़ियों ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रेय हमारे तत्त्वदर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नहीं पा सका।

सूफ़ (सफ़ेद ऊन) का वस्त्र पहननेवाले इन फ़क़ीर रहस्यद्रष्टाओं की स्थिति हमारे मनीषियों से भिन्न रही। इन्हें बहुत विरोध का सामना करना पड़ा, जो इस्लाम धर्म का रूप देखते हुए स्वाभाविक भी था।

वहाँ 'अनलहक़' कहनेवाला धर्म का विरोधी बनकर उपस्थित होता है, पर यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' पुकारनेवाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योंकि हमारे यहाँ ब्रह्मरूप श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरम विकास है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा असामाजिक प्राणी न माना जाकर सबका परम आत्मीय माना गया। सूफ़ी सन्तों की परिस्थितियों ने उन्हें लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकान्तिक विकास पाने दिया, इसी से हमारे तत्त्वचिन्तक बाहर के विरोधों की चर्चा नहीं करते पर सूफ़ियों की रचनाओं में लोक-कठोरता का ब्योरा भी मिलता है।

परन्तु इन्हीं कारणों ने सूफ़ियों के काव्य को अधिक मर्मस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिन्तन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होंने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उससे तादात्म्य की इच्छा

को विशुद्ध भावभूमि पर ही स्थापित किया, अतः उनके विरह-मिलन की साङ्केतिक अभिव्यक्तियाँ अपनी अलौकिकता में भी लौकिक हैं।

हिन्दी काव्य में रहस्यवाद वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ दोनों ओर के तत्त्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नहीं एक सीमित धरती पर भी साथ खड़े हो सके। अतः दोनों ओर की विशेपतायें मिलकर गङ्गा-यमुना के सङ्गम से बनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती हैं। इस काव्यधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुपार-धवल उन्नत चोटियाँ हैं और आगे भाव की हरीभरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरन्तर गतिमय नवीनता मिलती रह सकी।

भारतीय रहस्यचिन्तन में एक विशेपता और है। उसके समर्थक हर बार क्रान्ति के स्वर में बोलते रहे हैं। रूढ़िग्रस्त धर्म, एकरस कर्म-काण्ड और बद्धमूल अन्धविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम हैं, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल हैं और विचारों में कितने मौलिक हैं, इसे उपनिषद् काल की विचारधाराएँ प्रमाणित कर सकेंगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता सम्भव ही नहीं जो सत्य पर आश्रित न हो।

धर्म की दुर्लंघ्य प्राचीरें और कर्मकाण्ड की दुर्गम सीमाएँ पार कर मुक्त आकाश में गूँजनेवाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हमें चौंका देता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतों में उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रान्ति कैसी खिन्नता

क्यों ?) बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदर्शन जीवन की यथार्थता नहीं भूलता, अतः इसी उपनिषद् में 'कुर्व्वन्नेवेहि कर्माणि जिजीविषे'... आदि में हम पाते हैं—"यहाँ कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। हे मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले तेरे लिए अन्य मार्ग नहीं है, नहीं है।"

रूढ़ियाँ यदि अचल हैं तो रहस्यदर्शकों के स्वर में शत-शत निर्झरों का प्रखर वेग है, जीवन यदि विषम है तो उनकी दृष्टि में अनन्त आकाश का सामञ्जस्य है और धर्म यदि संकीर्ण है तो उनके आत्मवाद में समीर का व्यापक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) कहता है—

"In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads... They are a product of the highest wisdom...It is destined sooner or later to become the faith of the people."

(संसार में उपनिषदों के समान उपयोगी और उदात्त बनानेवाला अन्य स्वाध्याय नहीं। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता का धर्म होगा यह निश्चित है।)

हिन्दी के रहस्यवाद के अथ के साथ हमें कबीर में ऐसे क्रान्ति-दूत के दर्शन होते हैं जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया, अपनी अशिक्षा को आलोक में बदल दिया और अपने एक स्वर से वातावरण की जड़ता को शत-शत स्पन्दनों से भर दिया। कबीर तथा

अन्य रहस्यदर्शी सन्तों और सगुण-भक्तों में विशेष अन्तर है। सगुण उपासक यदि प्रशान्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है तो रहस्यद्रष्टा, अपने पीछे आलोक-पुञ्ज की प्रज्ज्वलित लीक खींचनेवाला उल्कापिण्ड। एक की, गति में निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखें ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। परन्तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ में ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को बलात् खींच लेती है। उसके विद्युत् वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और सुविधा की अपेक्षा नहीं करता। सगुण गायक हमारे साथ साथ जीवन की रागिनी सुनाता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक कहीं दूर अन्धकार में खड़ा होकर पुकारता है—चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युगों के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा का विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातों के उपरान्त भी उनमें कोई दीनता नहीं, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नहीं और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नहीं।

सम्भवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ में नहीं रहता—भारतीय तत्त्वदर्शन ऐसा ही पारस रहा है।

गीति-काव्य

मनुष्य के सुख-दुःख जिस प्रकार चिरन्तन हैं उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरन्तन रही है, परन्तु यह कहना कठिन है कि उन्हें व्यक्त करने के साधनों में प्रथम कौन था।

सम्भव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द में चहचहा उठती है और मेघ को घुमड़ता घिरता देखकर मयूर नाच उठता है उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले पहले अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया हो। विशेष कर स्वर-सामञ्जस्य में बँधा हुआ गेय काव्य मनुष्य-हृदय के कितना निकट है यह उदात्त अनुदात्त स्वरों में बँधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणों में समा जानेवाले प्राकृत-पदों के अधिकारी हम भली भाँति समझ सके हैं।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य का भी अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिदर्शन सङ्गीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्यथासिक्त पदावली तो सारे गीत-जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

सुख-दुःख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को

संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरान्त, भाव के संस्कारमात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है जिसमें संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निःश्वास में भी है जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निःस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है।

वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके बाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी

वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। सूर का संयम भावों की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है परन्तु कथा इतनी पराई है कि हम बहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते हैं बहते नहीं और प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मन्दाकिनी कहे जा सकते हैं, हमारी कभी गँदली कभी स्वच्छ वेगवती सरिता नहीं। मनुष्य की चिरन्तन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा मस्तक श्रद्धा से, नम्रता से नत हो जाता है, परन्तु प्रायः हृदय कातर क्रन्दन नहीं कर उठता। इसके विपरीत कबीर के रहस्यभरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर हममें उनके विचार ध्वनित हो उठते हैं भाव नहीं जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्ति प्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक से अधिक अन्तस्तल में समा जानेवाला, अनेक भूले सुखदुखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को संयत रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना-द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल संस्कारमात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नहीं है और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र मानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओं में सुलभ मानी जा सकती है।

हिन्दी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्तिप्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अङ्ग की

ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अङ्कित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कहकर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।

इस युग के गीतों की एकरूपता में भी ऐसी विविधता है जो उन्हें बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इनमें कुछ गीत मलयसमीर के झोंके के समान हमें बाहर से स्पर्श कर अन्तरतम तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन से बोझिल पङ्खों-द्वारा हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मन्दिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुँधला परन्तु मन को सुरभित किये बिना नहीं रहते।

काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीतिमुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है जो न उनसे दबकर टूटता है और न बँधकर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रङ्गस्नात होकर उन्नत चोटियों का शृङ्गार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पन्दन पहुँचाता है।

साधारणतः गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-

गीत और नीति-पद तक अपनी संवेदनीयता के लिए व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते हैं। अलौकिक आत्मसमर्पण हो या लौकिक स्नेहनिवेदन, तात्कालिक उल्लास-विषाद हो या शाश्वत सुख-दुःखों का अभिव्यञ्जन, प्रकृति का सौन्दर्य-दर्शन हो या उस सौन्दर्य में चैतन्य का अभिनन्दन, सब में गेयता के लिए हृदय अपनी वाणी में संसार-कथा कहता चलता है। संसार के मुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे हैं जो हृदय को मांसल यन्त्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्कक्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है उसका भार गीत नहीं सँभाल सकता; पर तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामञ्जस्य का विशेष महत्त्व रहा है। वेद-गीतों के विश्वचिन्तन से सन्तों के जीवन-दर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-परम्परा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के संस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नहीं। इसी कारण वेदकालीन मनीषियों का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगों में सम्भव न हो सकी।

रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है, पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुल मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई। भावों के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखण्ड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कहीं रङ्गीन, कहीं सितासित, कहीं सघन, कहीं हल्के, कहीं चाँदनी-धौत और कहीं अश्रुस्नात बादलों से छाये आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनन्त रूपात्मकता के किसी भी खण्ड पर ठहराकर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अतः आनन्द और विषाद की मर्मानुभूति के साथ साथ उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतों में निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सन्तुलन अपेक्षित है वैसा अन्य गीतों में आवश्यक नहीं, क्योंकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव, यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे तो हृदय उसे अपनी सीमा में न रख सकेगा। रहस्यगीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतों में सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, इसी से कवि को बहुत अन्तर्मुख नहीं होना पड़ता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण-गायक अनेक रङ्ग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रँगता है, अतः वह उस निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा जिसके पास रङ्ग एक और चित्रपट शून्य असीम है। एक

की निपुणता रङ्गों के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओं की चिर नवीन अनन्तता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बँधी रहेगी जैसे दीप की लौ से आलोकमण्डल और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्मनिवेदक है तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाएँ वैसे ही फूटती रहेंगी जैसे अनन्त समुद्र में हिलोरें।

वास्तव में सगुण-गीत में जीवन की विस्तृत कथात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोक-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और भावों की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नहीं, पर उसकी सरल संवेदनीयता की सब सीमाओं तक उसकी पहुँच रहती है। हमारी गीत-परम्परा विविधरूपी है पर उसका वही रूप पूर्णतम है जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली सुखदुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। पर अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःखरागिनी का वायु-मण्डल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य संसार की कठोर सीमाओं और अन्तर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अन्तर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आन्तरिक सामञ्जस्य की प्राप्ति

का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गीत की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-

न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।...

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है जिसकी ओर, भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दुःख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामञ्जस्य देने का आग्रह इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिन्ता आदि की अनुभूति जैसी सहज है वैसी भूख की व्यथा की नहीं। परन्तु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जायगी जब वह दूसरे बुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आँखों से दूर बाहर गानेवाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते

हैं जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का विशेष मूल्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अन्तर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं स्वीकार करता। उसमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इसमें दूसरों की अनेकता में अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखें भर लाने के लिए हमें अपने आँसुओं में डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरे के डबडबाये हुए नेत्रों की भाषा समझने के लिए हमें अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दुःख में डुबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दुःख में अपने दुःख को मिलाकर बोलता है तब उसके कण्ठ में दो का बल होगा, जब तीसरा, उन दोनों के दुःख में अपना दुःख मिलाकर बोलता है तब उसके कण्ठ में तीन का बल होगा। और इसी क्रम से जो असंख्य व्यक्तियों के दुःख में अपना दुःख खोकर बोलता है उसके कण्ठ में असीम बल रहना अनिवार्य है।

अन्तर्जगत् में यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुँचती है। सफल गायक वही है जिसके गीत में सामान्यता हो अर्थात् जिसकी भावतीव्रता में दूसरों को अपने सुखदुख की प्रतिध्वनि सुन पड़े और यह तब स्वतः सम्भव है जब गायक अपने सुखदुखों की गहराई में डूबकर या दूसरे के उल्लास-विषाद से सच्चा तादात्म्य कर गाता है।

भारतीय गीति-परम्परा आरम्भ में ही बहुत समृद्ध रही, अतः उसका प्रभाव सब युगों के गीतों को विविधता देता रह सका। ऐसा गीतिसाहित्य जिसने सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति-रूपों की अनन्तता,

और भाव का बहुरंगी जगत् सँभाला हो आगत काव्य युगों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

तत्त्व की छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहाँ वाणी को बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पन्दन मिल सका। इसी से उच्चारण में एक वर्ण की भूल अक्षम्य और ध्वनि में एक कम्पन की त्रुटि असह्य हो उठती थी।

पावका नः सरस्वती वाजे वाजिनवती

× × ×

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना

ऋग्वेद १–३–१०, १२

(हमारी वाणी पवित्र करनेवाली और ऐश्वर्य्यमती है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुँचाने में समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप में शब्द को ब्रह्म की संज्ञा तक पहुँचाने में सहायक हुई। गीत की शक्ति वाणी से अधिक थी, क्योंकि वह शब्दों के चयन को लय में सन्तरण देकर उनकी व्यापकता और बढ़ा देता था। इसीसे पूरा सामगान जीवन-समुद्र पर, लय का लहराता हुआ पाल बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

गीर्भि वरुण सीमहि (हे मेरे वरणीय! मैं गीत से तुम्हें बाँधता हूँ) इतना ही नहीं, गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेमं नः स्तोमया गह्यु पेदं सवनं सुतम्

गौरो न तृषितः पिव। ऋ० १–१६–५

(प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो।)

तत्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता, सौन्दर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं। चिन्तन के अधिक विकास ने गीत के स्थान में गद्य को प्रधानता दी, पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपों में फैलता रहा।

बौद्धधर्म जीवन की विषमता से उत्पन्न है, अतः दुःखनिवृत्ति के अन्वेषकों के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्मम रहा। पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले वे जीवन से सुरभित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं। यक्तिक विरागभरी थेरगाथाएँ और सौन्दर्य की करुण कथाएँ कहनेवाली थेरीगाथाएँ अपनी भाषा और भाव के कारण वेद-गीत और काव्य-गीतों के बीच की कड़ी जैसी लगती हैं।

विशेषतः निवृत्तिप्रधान गाथाओं से वैराग्य-गीतों को बहुत प्रेरणा मिल सकी। इन वीतराग भिक्षुओं का विहग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशान्त अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,

सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।

थेरगाथा—११३६

(जब तुम वन में ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवावाले सुन्दर शिखाशोभी तथा शोभन चित्रित पङ्खों से युक्त आकाशचारी

विहङ्गम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोषभरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।)

यदा वलाका सुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं।

थेर० ३०७

(जब ऊपर (आकाश में) श्याम घनघटा से सभीत बगुलों की पाँत अपने उज्ज्वल श्वेत पङ्ख फैलाकर आश्रय खोजती हुई बसेरे की ओर उड़ चलती है तब (नीचे उनका प्रतिबिम्ब लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय में प्रसन्नता भर देती है।)

अङ्गारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं।
दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसो पवन्ति,
पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर।

थेर० ५२७–२८

(नई कोंपलों से अङ्गारारुण वृक्षों ने फल की साध से जीर्णशीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अब वे लौ से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे हैं। हे वीरश्रेष्ठ ! हे तथागत ! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है।

द्रुमाली फूलों के भार से लदी है, सब दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड़ रहे हैं। हे वीर ! यह हमारी यात्रा का मङ्गल मुहूर्त्त है।)

भिक्षुणियाँ भी अपने नश्वर सौन्दर्य का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाती हैं।

> कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
> ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।
> काननस्मि वनखण्डचारिणी कोकिला व मधुरं निकूजितं,
> तं जराय खलितं तहिं तहिं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।
>
> थेरीगाथा २५२–६१

(भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काले और घुँघराले मेरे अलकगुच्छ जरा के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गये हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नहीं।

वनखण्ड में सञ्चरण करती हुई कोकिला की कुहुक के समान मधुर मेरे स्वर का संगीत आज जरा के कारण टूट-टूटकर बेसुरा हो रहा है। ध्वंस का क्रम इसी प्रकार चलता है सत्यवादी का यह कथन अन्यथा नहीं)।

संस्कृत-काव्य में क्रौञ्च की व्यथा से करुणार्द्र ऋषि गा नहीं उठा, जीवन के तार सँभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारों की झंकार सुनती रही। पर काव्य का राग जब मौन हो जाता है तब लोक उस लय को सँभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नहीं हो सकती। संस्कृत नाटकों और प्राकृत काव्यों में जो गीत हैं वे तत्कालीन लोक-गीत ही कहे जायँगे। यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और सरल मधुर शब्दावली के द्वारा प्रकृति और जीवन के बड़े सहज सुन्दर चित्र अङ्कित कर सके हैं।

भाव की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति की सरल शैली की दृष्टि से हिन्दी गीतिकाव्य इन प्राकृत-गीतों का बहुत आभारी है।

एक्कमपरिक्खणपहार सँमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।
वाहेण मण्णुविअलन्तवाह धोअं धणुं मुक्कम्॥

गाथा सप्तशती ७–१

(मृग मृगी के जोड़े में से जब प्रत्येक दूसरे को बाण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामने आने लगा तब करुणार्द्र व्याध ने आँसुओं से धुला धनुष रख दिया।)

खरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स।
धुक्काधुक्कईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स॥ गाथा० ६–८२

(जब प्रचण्ड पवन ने उसे गला पकड़कर पर्वतशिखर से नीचे फेंक दिया तब छिन्न-भिन्न शरीरवाले काले मेघ के भीतर विद्युत् प्राण के समान धुकधुका उठी।)

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ संख-सुत्ति व्व॥ गाथा० १–५

(देखो कमल के पत्र पर बलाका (बकी) कैसी निश्चल निःस्पन्द बैठी है। वह तो निर्मल मरकत के पात्र में रक्खो हुई शंखसुक्ति जैसी लगती है।)

इस प्रकार के, कहीं करुण, कहीं सजीव और कहीं सुन्दर चित्रों की सरल मार्मिकता ने हमारे लोक-गीतों पर हीं नहीं पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है।

हिन्दी गीति-काव्य में भारतीय गीति-परम्परा की मूल-प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक ही था। तत्त्व-चिन्तन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौन्दर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दुःखों की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतों को विविधता भी दी है और व्यापकता भी।

कबीर के निर्गुण-गीतों ने ज्ञान को फिर गेयता देने का प्रयास किया है।

'मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं। आपै अघट सकल घट माँहीं'। जैसे पदों में वेदान्त मुखरित हो उठा है और—

गगन-मँडल रवि ससि दोइ तारा। उलटी कूँची लागि किवारा।

आदि चित्रों में साधनात्मक योग की रूप-रेखाएँ अङ्कित हैं।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन रहस्यों का उद्घाटन भी हमारे तत्त्वचिन्तन में बहुत विकसित रूप पा चुका था।

कबीर की

पाँच सखी मिलि कीन्ह रसोई एक ते एक सयानी,
दूनो थार बराबर परसैं जेवैं मुनि अरु ज्ञानी।

आदि पंक्तियां में व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है यह तब प्रकट होता है जब हम उन्हें अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते हैं—

तन्त्रमेकं युवती विरूपे अभ्याक्राम वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूस्तिरति धत्ते अन्या नापवृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥

(दो गौर श्याम युवतियाँ (उषा रात्रि) क्रम से वार-वार आ-जाकर छः खूँटीवाले (ऋतुओंवाले) जाल को (विश्वरूप को) वुनती हैं । एक सूत्रों को (किरणों को) फैलाती है, दूसरी गाँठती (अपने में समेट लेती) है; वे कभी विश्राम नहीं करतीं पर तो भी कार्य की समाप्ति तक नहीं पहुँच पातीं ।)

निर्गुण-उपासक तत्त्वद्रष्टा ही नहीं तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अतः उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उल्लास-विषाद वन जाता है। प्रकृति वहाँ एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अतः उसके सौन्दर्य में सौरभ जैसा स्पर्श है जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नहीं वन सकता और भाव में आलोक जैसा रङ्ग है जो किसी वस्तु पर पड़कर उससे भिन्न नहीं रहता ।

निर्गुण-गायक अपने सुख-दुःखों की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य वनाता है और सगुण-गायक अपने सुख-दुःखों को गहराई देकर सव का वनाता है। एक ज्ञान के लिए हृदयवादी है, दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतों का आधार सौन्दर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केन्द्र-विन्दु वन गया है, अतः भावों की सवलता और रूपों की विविधता उसे घेरकर ही सफल हो सकती है। संस्कृत काव्यों के समान ही इन चित्र और भाव गीतों में प्रकृति विविधरूपी है। कहीं वह अपनी स्वतन्त्र रूपरेखा में यथार्थ है, कहीं हृदय के हर स्वर में स्वर मिलानेवाली रहस्यमयी सङ्गिनी है, कहीं मनुष्य के

स्वानुभूत सुख-दुःखों की मात्रा बताने का साधन है और कहीं आराध्य के सौन्दर्य, शक्ति आदि की छाया है।

बरसत मेघवर्त धरनी पर।
चपला चमकि चमकि चकचौंधति करति सबद आघात,
अन्धाधुन्ध पवनवर्तक घन करत फिरत उत्पात।—सूर

उपर्युक्त गीत में मेघ की चित्रमयता यथार्थ है, पर जब घटा देखकर विरह-व्यथित मीरा पुकार उठती है—

मतवारो बादल आयो रे,
मेरे पी को सँदेसो नहिं लायो रे।

तब हमें बादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साकारता मिलती है जो मेघदूत के मेघ में यक्ष ने पाई थी। 'निसिदिन बरसत नयन हमारे' में वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या बनकर उपस्थित होती है और 'आजु घनश्याम की अनुहारि' जैसी पंक्तियों में मेघ कृष्ण की छाया से उद्भासित हो कृष्ण जैसा बन गया है। स्वानुभूति-प्रधान इन गीतों ने हृदयगत मर्म को चित्रमयता और बाह्य रूपों को व्यापकता दी है।

इनकी स्वर-लहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई में कितने स्थायी रूप से बस गई है इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनों देते हैं।

भारतेन्दु-युग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है जिसमें सभी प्रवृत्तियाँ अंकुरित हो उठी हैं, अतः गीत भी किसी भूली रागिनी के समान मिल जाते हैं तो आश्चर्य नहीं। ये गीत स्वतन्त्र अस्तित्व न रखकर

गद्य-रचनाओं के बीच में आये हैं इसलिए विषय, भाव आदि की दृष्टि से उनका कुछ बँधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमें कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलेंगी जो अतीत और वर्तमान गीति-मुक्तकों को जोड़ने में समर्थ हैं। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्बोधन, सामाजिक-धार्मिक विकृतियों के प्रति व्यङ्ग भारतेन्दु के गीतों को विविधता देते हैं।

भई आधि राति वन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।

उपर्युक्त पंक्तियों में रात की रेखाओं में निःस्तब्धता का रङ्ग है, पर जहाँ कवि ने प्रकृति के सम्बन्ध में परम्परा का अनुसरण मात्र करना चाहा वहाँ वह सजीव स्पन्दन खो गया सा जान पड़ता है—

अहो कुञ्ज वन लता विरुध तृन पूछत तोसों,
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों।

भाव-गीतों में सगुण-निर्गुण गीतों की शैली ही नहीं कल्पना का अभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।
नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओटि दुराय,
हियरे में मनहूँ के अन्तर कैसे लेउँ लुकाय।

तत्कालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के ज्ञान ने व्यङ्गमय यथार्थ-चित्रों और विषादभरे राष्ट्र-गीतों को प्रेरणा दी है।

घन गरजै जल बरसै इन पर विपति परै किन आई,
ये बजमारे तनिक न चौंकत ऐसी जड़ता छाई।

\+ + +

भारत जननी जिय क्यों उदास,
बैठी इकली कोउ नाहिं पास।
किन देखहु यह ऋतुपति प्रकास,
फूली सरसों वन करि उजास।

पृथ्वी की मातृरूप में कल्पना हमारे बहुत पुराने संस्कार से सम्बन्ध रखती है। अथर्व का पृथ्वीगीत चित्रमय और यथार्थ होने के साथ-साथ मातृवन्दना भी है—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिविस्योनमस्तु।

× × ×

पवस्य माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या।

(ये तेरे पर्वत और तुषार से आच्छादित तुङ्ग शिखर, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हों। हे मातृ-भू ! तू मुझे पवित्र कर, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।)

खड़ी बोली के आरम्भ में जीवन, प्रकृति, नीति, राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक लिखे गये परन्तु उनमें गेयता के लिए स्थान कम था। वास्तव में

गीत सरल, मधुर, परिचित और प्रयोग से मँजी हुई शब्दावली से आकार और भाव-तीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा के आदियुग में गीत के रूप और प्राण को सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति न मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी धरती और आकाश से इस प्रकार बँधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशीय भाषा में गा नहीं पाता।

खड़ी बोली के गीत हमें प्रबन्ध-काव्यों में तब प्राप्त हुए जब उससे हमारा हृदय परिचित हो चुका था, भाषा मँज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका था। शुद्ध संस्कृत शब्दावली और उसके वर्णवृत्त अपनानेवाले कवियों पर संस्कृत-काव्यों का प्रभाव होना अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से सहानुभूति न रखने के कारण इन कवियों ने संस्कृत काव्यों की वह शैली अपनाई जिसमें प्रकृति की रेखाएँ स्पष्ट सरल और जीवन के रङ्ग जाने-पहचाने से लगते हैं। साकेत में चित्रकूट की वनवासिनी सीता—

किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं।

× × ×

तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

गाकर प्रकृति का जो शब्दचित्र उपस्थित करती है उसकी रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी है। इसी प्रकार विरहिणी उर्मिला—

न जा अधीर धूल में,

दृगम्बु आ दुकूल में!

× × ×

तुम्हारे हँसने में हैं फूल हमारे रोने में मोती !

आदि में अपनी व्यथा को जो ध्वनिमय साकारता देती है उससे भी हमारा पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्मगीत ही नहीं कवि के रहस्य-गीत भी सरल शब्दावली और परिचित भावों के कारण इतने ही निकट जान पड़ते हैं। इनमें तीव्र भावावेग नहीं, जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास है जो कभी-कभी अतिपरिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सवेरा है अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आँसुओं की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देनेवाले इन सुख-दुःख भरे गीतों के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था पर उसके कर्माडम्बर में सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-संस्कृत-सम्बन्धी आदर्शों और विश्वासों को एक पग में नापने के लिए जिज्ञासा वामन से विराट् हुई जा रही थी। बहुत दिनों से शरीर का शासन सहते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन सभ्यता हमें प्रकृति से इतनी दूर ले आई थी कि पुराना रूप-दर्शन-जनित संस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेन्दु-युग की विषादभरी ध्वनि—

'अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा' ने असंख्य प्रतिध्वनियाँ जगाकर हमें अन्तिम बार अपने जीवन की सूक्ष्म और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनन्द से मनुष्य जब चञ्चल होता है तब भी गाता है और व्यथा से जब हृदय भारी हो जाता है तब भी गाता है, क्योंकि एक उसके हर्ष को बाहर फैलाकर जीवन को सन्तुलन देता है और दूसरा उसकी निःस्तब्धता में संवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन को गतिरुद्ध होने से बचाता है।

गत महायुद्ध की तमसा के विषाद भरे प्रभात में रुधिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाश देखकर कवि के हृदय में प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—'जीवन क्या विषम खण्डों का समूहमात्र है जिसमें एक खण्ड दूसरे के विरोध में ही स्थिति रक्खेगा? हृदय क्या मांसल यंत्रमात्र है जिसमें परस्पर पीड़ा पहुँचाने के साधनों का ही आविष्कार होता रहेगा? प्रकृति क्या लौहागारमात्र है जिसमें एक दूसरे को क्षत-विक्षत करने के लिए अमोघ अस्त्र-शस्त्र ही गढ़े जायँगे?'

भारतीय कवि को उसके सब प्रश्नों का उत्तर जीवन की उसी अखण्डता में मिला जिसकी छाया में लघु-गुरु, कोमल-कठोर, कुरूप-सुन्दर सब सापेक्ष बन जाते हैं।

जीवन को जीवन से मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उसने वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया जो सबकी मुक्ति में उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप-एकता के सम्बन्ध में छायायुग के प्रतिनिधि गायकों के स्वर भिन्न पर राग एक है—

> अपने सुख-दुख से पुलकित,
> यह मूर्त्त विश्व सचराचर,
> चिति का विराट वपु मंगल,
> यह सत्य सतत चिर सुन्दर!—प्रसाद

जिस स्वर से भरे नवल नीरद

हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद्

जिस स्वर वर्षा ने भर दिये सरित-सर-सागर

मेरी यह धरा हुई धन्य भरा नीलाम्बर !

यह स्वर शर्मद उनके कण्ठों में गा दो !—निराला

एक ही तो असीम उल्लास

विश्व में पाता विविधाभास,

तरल जलनिधि में हरित-विलास

शान्त अम्बर में नील विकास ।—पन्त

जीवन में सामञ्जस्य को खोजनेवाले कवि ने बाह्य विभिन्नता से अधिक अन्तरतम की एकता को महत्त्व दिया और आधुनिक युग के मनुष्य-निर्मित आश्चर्यों के स्थान में प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया। तत्त्वगत एकता और सौन्दर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतों के निराकार को अनन्त रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृतिगीतों के सौन्दर्य को भाव के निरन्तर श्वासोच्छ्वास में विस्तार दिया।

सङ्गीत के पङ्खों पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया में गीत विविध रूपी हो उठे। स्वानुभूत सुख-दुःखों के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौन्दर्य को सजीवता देनेवाले चित्र-गीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गई।

पर इस भावगत सर्ववाद में इतिवृत्तात्मक यथार्थ की स्थिति कुछ कठिन हो जाती है। छायावाद की रूप-समष्टि में प्रकृति और जीवन की रेखाएँ उलझकर सूक्ष्म तथा रङ्ग घुल-मिलकर रहस्यमय हो उठते हैं। इसके विपरीत इतिवृत्त को कठिन रेखाओं और निश्चित रङ्गों की आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह केवल उसी वस्तु को देखता है जिसका उसे चित्र देना है—आसपास की रूप-समष्टि के प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं।

इसके अतिरिक्त गीत स्वयं एक भावावेश है और भावावेश में वस्तुएँ कुछ अतिशयोक्ति के साथ देखी जाती हैं। साथ ही गायक अपने सुख-दुःखों को अधिक से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है. अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे।

इस प्रकार प्रत्येक गीत भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बँधा रहेगा। मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।

छायावाद के गीतों का यथार्थ कभी भाव की छाया में चलता है और कभी दर्शनात्मक आत्मबोध की।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनों की यथार्थ रेखाओं को एक रहस्यमयता दे देती है—

लख ये काले काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल दल !—निराला

में मेघ रूप की जिस अनन्त समष्टि के साथ है—

गहरे धुँधले धुले साँवले

मेघों से मेरे भरे नयन !—पन्त

में मनुष्य भी उसी समष्टि में स्थिति रखता है।

जीवन का तत्त्वगत भावन बाह्य अनेकता पार कर अन्तर की एकता पर आश्रित रहेगा अतः—

चेतन समुद्र में जीवन

लहरों सा बिखर पड़ा है।—प्रसाद

× × ×

मृण्मय दीपों में दीपित हम

शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम।—पन्त

जैसी अनुभूतियों में यथार्थ की रेखाएँ घुल-मिल जाती हैं।

इतना ही नहीं—

पीठ पेट दोनों मिलकर हैं एक

चल रहा लकुटिया टेक।

जैसी पंक्तियों में भिखारी की जो यथार्थ रेखाएँ हैं उनका कठोर बन्धन भी आत्मबोध की अन्तःफल्गु को बाहर फूट निकलने से नहीं रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अन्त में कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत मैं सींच दूँगा।—निराला

राष्ट्रगीतों में भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया। भारतेन्दु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनीतिक

विकृतियों के बीच में देखा, अतः 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया। खड़ी बोली के वैतालिकों ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के बीच में प्रतिष्ठित कर 'सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर मूर्त्तिमत्ता दी। छायावाद ने इस सौन्दर्य में सूक्ष्म स्पन्दन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा !

बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा-जल,

लहरें टकरातीं अनन्त की, पाकर जहाँ किनारा।—प्रसाद

भारतेन्दु-युग के—'चलहु वीर उठि तुरत सबै जयध्वजहिं उड़ाओ' आदि अभियान-गीतों में राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अंकुर हैं वे उत्तरोत्तर विकसित होते गए।

हिमाद्रि तुंग शृंग से,

प्रबुद्ध शुद्ध भारती,

स्वयंप्रभा समुज्ज्वला,

स्वतन्त्रता पुकारती।—प्रसाद

आदि अभियान-गीत संस्कृत के वर्णवृत्तों से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पन्दन पाते हैं। राष्ट्रगीतों में वही निर्धूम करुण दीप्ति है जो मोम-दीपों में मिलेगी।

पुरातन गौरव की ओर प्रायः सभी कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ; क्योंकि बिना पिछले सांस्कृतिक मूल्यों के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निश्चित करने में असमर्थ रहता है।

जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक में फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश
अखिल संसृति हो उठी अशोक।—प्रसाद

कहाँ आज वह पूर्ण-पुरातन वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त छवि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?—पन्त

मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय
जानते थे वर्षण ही
उद्गीरण वज्र नहीं।—निराला

इस प्रवृत्ति ने इन कवियों को एक ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दी जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दुःख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके।

काव्य-गीतों के साथ साथ समानान्तर पर चलनेवाली लोक-गीतों की परम्परा भी उपेक्षा के योग्य नहीं, क्योंकि वह साहित्य की मूल-प्रवृतियों को सुरक्षित रखती आ रही है। प्रायः जब प्रबन्धों के शङ्खनाद में गीत का मधुर स्वर मूक हो जाता है तब उसकी प्रतिध्वनि लोकहृदय के तारों में गूँजती रहती है। इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथासाहित्य की ओर से वीतराग बना देती है तब वे कथाएँ सरल आख्यान और किंवदन्तियों के रूप में लोककाव्यों में कही-सुनी जाती हैं। जब

आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौंध में प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है तब लोक और ग्राम में वह जीवन के पार्श्व में खड़ी रहती है। जब बदली परिस्थितियों में रण-कङ्कण खुल चुकते हैं, केसरिया बाने उतर चुकते हैं, तब लोक-गीत वीररस को पुनर्जन्म देते रहते हैं।

इस प्रकार न जाने कितनी काव्य-समृद्धि हमें लोक-गीत लौटाते रहे हैं। इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पन्दित छाया में विकास पाते हैं, अतः उनके गीतों में भारतीय काव्य-गीतों की मूल-प्रवृत्तियों का अभाव सम्भव ही नहीं। इन गीतों के सम्बन्ध में हमारी धारणा बन गई है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवनचित्र हैं, परन्तु उनका थोड़ा परिचय भी इसे भ्रान्त प्रमाणित कर सकेगा।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबन्दी गीत नहीं कही जायगी, इसी प्रकार लोक-जीवन के सब ब्योरे गेयता नहीं पा सकते। इसका सबसे अतर्क्य प्रमाण हमें ग्राम्य जीवन में मिलेगा, जहाँ लोक का सारा ज्ञान-कोष कण्ठ ही मे रहता है। पशु-सम्बन्धी ज्ञान, खेत-सम्बन्धी विज्ञान, जीवन की अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओं के समाधान, सब पद्य की रूपरेखा में बँधकर पीढ़ियों तक चलते रहते हैं। पर गेयता का महत्त्व इन तुकबन्दियों में नहीं खो जाता। गीतों में उतना ही यथार्थ लिया जाता है जितना भाव को भारी न बना दे। लोकगीतों में टेक की तरह आनेवाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमण्डल को घेरनेवाली दिशाओं के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उसे रूँध डालने के लिए नहीं।

हमारा यह बिना लिखा गीतकाव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियों के मूल रूपों का परिचय देने में समर्थ है जो हमारे काव्य में सूक्ष्म और विकसित होती रह सकीं।

प्रकृति को चेतन व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति उनमें अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष लता तक सब एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और दूसरी ओर उनके जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति में रहते हैं।

ग्राम की विरहिणी बाला अपने उसी रात लौटनेवाले पति के स्वागत का प्रबन्ध चन्द्रमा को सौंपने में कुण्ठित नहीं होती—

आजु उओ मोरे चन्दा जुन्हइया आँगन लीपे,
झिलमिल होहिं तरइयाँ तौ मोतियन चौक धरें।

(हे मेरे चन्द्र तुम आज उदय हो ! तुम्हारी चाँदनी मेरे आँगन को लीपकर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाएँ मोतियों का चौक बन जावें।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा सम्बन्ध है कि वे अपने सुख दुःख, संयोग-वियोग सब में उसी के साथ हँसना-रोना, मिलना-बिछुड़ना चाहते हैं—तभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यथित बालिका वधू कहती है—

मोरी डोलिया सजी है दुआर बाबुल तोरी पाहुनियाँ !
फूले जब अँगना का नीम फरे जब नारङ्गिया,

सुध कर लीजौ इक वार कूकै जब कोइलिया।
वौरै जब वगिया का अमवा झूलन डारैं सब सखियाँ,
पठइयो विरन हमार घिरैं जब बादरिया।

(हे पिता द्वार पर मेरी डोली आ गई है ! अब मैं तुम्हारी अतिथि हूँ। पर जब आँगन का नीम फूलों से भर जाय, नारङ्गी जब फलों से लद जाय और जब कोयल कूक उठे तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना।

जब बाग का रसाल वौरने लगे, उसकी डाल में सखियाँ झूला डालें और पावस की काली बदली घिर आवे तब तुम मेरे भैया को मुझे लेने के लिए भेज देना।)

इस चित्र के पार्श्व में हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुन्तला का चित्र आँक देती है जो पिता से लता के फूलने और मृगशावक के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वृक्ष-लताओं से कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

(जो तुम्हें पिलाये (सींचे) बिना स्वयं जल नहीं पीती, शृङ्गार से अनुराग रखने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे पल्लव नहीं तोड़ती, तुम्हारा फूलना जिसके लिए उत्सव है वही शकुन्तला आज पति के घर जा रही है, तुम सब इसे विदा दो।)

इन दो चित्रों के साथ जब हम इस ग्रामवधू का चित्र देखते हैं—

नहीं आँसुओं से आँचल तर
जन-विछोह से हृदय न कातर
रोती वह रोने का अवसर
जाती ग्रामवधू पति के घर ! —ग्राम्या

तब अपने दृष्टिकोण की उस विषमता और हृदय के उस दारिद्र्य पर विस्मित हुए बिना नहीं रहते जो हमीं को जड़ नहीं बनाता, दूसरों को भी यंत्र के समान ही अङ्कित करना चाहता है।

रहस्य-गीतों की रूपकमय पद्धति भी इन गीतों को गंगायमुनी आभा में स्नात कर देती है—

नइया मोरी झाँझरिया—नइया मोरी०
घहरै बदरिया कारी हहर बहै पुरवइया;
छूटि रही पतवार तौ रूठो खेवइया—नइया मोरी०

(मेरी नाव जर्जर है, काली घटा घहराकर उमड़ आई है, पुरवइया पवन के झकोरे हहराते हुए वह रहे हैं, पतवार हाथ से छूट गई है और मेरा कर्णधार न जाने कहाँ रूठा बैठा है।)

उपर्युक्त पंक्तियों में रहस्य के साथ जीवन की प्रत्यक्ष विपन्नावस्था का जो चित्र अङ्कित है उसमें न रेखाओं की कमी है, न रङ्ग में भूल। इतना ही नहीं, दर्शन जैसे गहन विषय पर आश्रित गीत भी न बाह्य यथार्थता में रहस्य की सूक्ष्मता खोते हैं, न अध्यात्म की गहनता में अपने लौकिक रूपों को डुबाते हैं—

एक कदम इक डार बसैं वे दुइ पँखियाँ रे।
सरग उड़न्ती एक उड़त फिरै दिन-रतियाँ रे,
चुगत-चुगत गई दूर लो दूसर अनमनियाँ रे;
मारो बियाधा ने बान रोवन लागीं दोउ अँखियाँ रे।

(एक कदम्ब की एक ही डाल पर ये दो विहङ्ग बसते हैं। उनमें एक अन्तरिक्ष में रात-दिन उड़ता ही रहता है, दूसरा उन्मन भाव से चुगता-चुगता दूर निकल गया और उसे एक व्याध ने बाण से बेध लिया। तब उसकी दोनों आँखें आँसू बरसाने लगीं।)

यह मण्डूकोपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा सयुजा' आदि में व्यक्त भाव का अधिक भावगत रूप ही कहा जायगा।

हमारे काव्य के भाव और चिन्तन दोनों की अधिक सहज, स्वाभाविक प्रतिच्छाया लोकगीतों में मिलती है। इसका कारण हमारे सगुण-निर्गुण-गीतों की जीवन-व्यापी मर्मस्पर्शिता और सरलता ही जान पड़ती है।

यदि हम भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से लोकगीत और काव्यगीतों की सहृदयता के साथ परीक्षा करें तो दोनों के मूल में एक सी प्रवृत्तियाँ मिलेंगी।

यथार्थ और आदर्श

सन्तुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, किन्तु समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढके वीर हैं कि जीवन की स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन वालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है: या तो ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामञ्जस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है; या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते हैं। आज जब बाह्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीति, समाज आदि के क्षेत्रों में भी हमारे इस एकांगी दृष्टिकोण ने हमें केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में ही जीवित रहने पर बाध्य किया है तब काव्य के सम्बन्ध में क्या कहा जावे जिसमें हमारी सारी विषमताएँ अपेक्षाकृत निर्बन्ध विकास पा सकती हैं।

प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी विशेष अपूर्णता से सम्बन्ध रखने के कारण तीव्र और एकांगी होती है। यदि उसे भूत और भविष्य की एक समन्वयात्मक कल्पना से संचालित न किया जावे तो वह विकास का अवकाश न देकर विषमताओं की शृङ्खला बनाती चलती है। यह सत्य है कि जीवन की गतिशीलता के लिए क्रिया-प्रतिक्रिया दोनों की आवश्यकता रहती है। पर इस गति की लक्ष्यहीनता को विकास से जोड़ देना हमारी दृष्टि की उसी व्यापकता पर निर्भर है जो आकाश के नक्षत्र से धरती के फूल तक आ जा सकती है।

साधारण रूप से गिरना, पड़ना, भटकना सभी अचलता से भिन्न हैं, परन्तु गति तो वही स्थिति कही जायगी जिसमें हमारे पैरों में सन्तुलन और दृष्टिपथ में एक निश्चित गन्तव्य रहता है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति किसी प्रकार भी यह नहीं प्रमाणित कर देती कि हमारे ध्वंसात्मक विद्रोह ने सृजन की समस्या भी सुलझा ली है। यों तो आँधी और तूफ़ान की भी आवश्यकता है, अतिवृष्टि और अनावृष्टि का भी उपयोग है, परन्तु यह कौन कहेगा कि वह आँधी तूफ़ान को ही श्वासोच्छ्वास बना लेगा, केवल अतिवृष्टि या केवल अनावृष्टि में ही बोये काटेगा। प्रत्येक उथल-पुथल में से निर्माण का जो तन्तु आ रहा है उसे ग्रहण कर लेना ही विकास है, परन्तु यह कार्य उनके लिए सहज नहीं होता जिनकी दृष्टि क्रिया-प्रतिक्रिया के उत्तेजक आज तक ही सीमित रहती है। ध्वंस में केवल आवेग की तीव्रता ही अपेक्षित है पर निर्माण में सृजनात्मक संयम के साथ-साथ समन्वयात्मक दृष्टि की व्यापकता भी चाहिए। प्रासाद का

गिरना किसी कौशल की अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु बिना किसी शिल्पी के मिट्टी का कच्चा घर बना लेना भी कठिन होगा, इसी से प्रायः राजनीतिक क्रान्तियों के ध्वंसयुग के सूत्रधार निर्माण युग में अपना स्थान दूसरों के लिए रिक्त करते रहे हैं। काव्य-साहित्य और अन्य कलाएँ मूलतः सृजनात्मक हैं, अतः उनमें राजनीति के कार्य-विभाजन जैसा कोई विभाजन सम्भव ही नहीं होता। कोई भी सच्चा कलाकार ध्वंसयुग का अग्रदूत रहकर निर्माण का भार दूसरों पर नहीं छोड़ जा सकता क्योंकि उसकी रचना तो निर्माण तक पहुँचने के लिए ही ध्वंस का पथ पार करती है। जिस प्रकार मिट्टी की क्रिया से गला और अपनी प्रतिक्रिया में अंकुर बनकर फूटा हुआ बीज तब तक अधूरा है जब तक वह अपनी और मिट्टी की शक्तियों का समन्वय करके अनेक हरे दलों और रङ्गीन फूलों में फैल नहीं जाता उसी प्रकार जीवन के विकासोन्मुख निर्माण में व्यापक न होकर केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में सीमित रहनेवाली कला अपूर्ण है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न तो किया ही जा सकता है। यदि हम केवल लक्ष्य पर दृष्टि न रखें तो लक्ष्यभेद कैसे हो? उत्तर सहज और स्पष्ट है। जीवन केवल लक्ष्यभेद ही नहीं लक्ष्य का स्थापन भी तो है। कलाएँ ही नहीं जीवन की स्थूलतम आवश्यकताएँ भी मत्स्य की आँख को बाण की नोक से छेद देने के समान नहीं कही जा सकतीं। भोजन के एक ग्रास की इच्छा भी ईंधन-पानी से लेकर शरीर के रसों तक किस प्रकार फैली है इसे कौन नहीं जानता।

मनुष्य यंत्रमात्र नहीं है (आज तो यंत्रों के कलपुर्ज़े भी न सब के लिए स्पष्ट हैं न रहस्य से शून्य) कि उसका सम्पूर्ण बाह्य और अन्तर्जगत् कुछ विशेष नियमों से सञ्चालित हो सके। बाह्य-जीवन को तो विधिनिषेध किसी अंश तक बाँध भी सकते हैं, परन्तु अन्तर्जगत् अपनी सूक्ष्मता के कारण उनकी परिधि से परे ही रहेगा। हमारा कोई भी स्वप्न, किसी प्रकार की भी कल्पना, कैसी भी इच्छा जब तक स्थूल साकारता नहीं ग्रहण करती तब तक बाह्य संसार के निकट उसका अस्तित्व नहीं है। परन्तु हमारे अन्तर्जगत् में तो उसकी स्थिति रहेगी ही और इस प्रकार वह रोग के कीटाणुओं के समान उपचार-हीन क्षय भी करती रह सकती है और जीवनरस के समान स्फूर्ति का कारण भी बन सकती है। हमारे अन्तर्जगत् में पली हुई विषम भावना, विकृत कल्पना आदि में परिणाम में प्रकट स्थूल रूप-रेखा की कमी हो सकती है परन्तु जीवन को जर्जरित कर देनेवाली शक्ति का अभाव नहीं होता, इस सत्य को हमें स्वीकार करना ही होगा।

राजनीति और समाज के विधान हमारे इस सूक्ष्म जीवन को बाँध नहीं पाते। स्थूल धर्म और सूक्ष्म अध्यात्म भी इस कार्य में प्रायः असमर्थ ही प्रमाणित होते रहे हैं, क्योंकि पहला तो राजनीति के न्याय-विधान को ही परलोक में प्रतिष्ठित कर आता है और दूसरा सत्य को सौन्दर्यरहित कर देने के कारण केवल बुद्धिग्राह्य बनकर हृदय के लिए अपरिचित हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार बाह्य शारीरिक कुरूपता मनुष्य के सौन्दर्यबोध को कुण्ठित नहीं कर देती, प्रत्युत कभी-कभी और अधिक तीव्रता दे देती है, उसी प्रकार उसके बाह्य या अन्तर्जगत् की अपूर्णता उसे पूर्णता का सौन्दर्य देखने से नहीं रोकती। ऐसा कुत्सित मनुष्य मिलना कठिन होगा जिसके अन्तर्जगत् से पूर्णता की प्रत्येक रेखा मिट गई हो, सामञ्जस्य के आदर्श के सब रंग धुल गये हों। साधारणतः घोर मिथ्यावादी भी सत्य को सबसे अधिक सम्मान देता है। मलिनतम व्यक्ति भी पवित्रता का सबसे अधिक मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य संसार के सामने ही नहीं, हृदय के एकान्त कोने में भी यह नहीं स्वीकार करना चाहता कि वह मिथ्या के लिए ही मिथ्यावादी है, मलिनता के प्रेम के कारण ही मलिन है। प्रायः वह सब व्यक्तिगत अपूर्णताओं और विषमताओं का भार परिस्थितियों पर डालकर, अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित किसी पूर्णता और सामञ्जस्य की प्रतिमा के निकट अपने आपको क्षम्य सिद्ध कर लेता है।

यह अपूर्णता से पूर्णता, यथार्थ से आदर्श और भौतिकता से सूक्ष्म तत्त्वों तक विस्तृत जीवन, काव्य और कलाओं की उसी परिधि से घिर सकता है जो सौन्दर्य की विविधता से लेकर सत्य की असीम एकरूपता तक फैली हुई है।

विशेष रूप से काव्य तो हमारे अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को देशकाल से सीमित जीवन की स्थूल रूप-रेखा में इस प्रकार ढाल देता है कि वे

हमारे लिए एक परिचयभरी नवीनता बन जाते हैं। उसका संस्पर्श तो बहुत कुछ वैसा ही है जैसा दूरागत रागिनी का, जिसकी लहरें बिना आहट के ही हमारे हृदय को पुलक-कम्प से भर देती हैं, परन्तु हमारे बाह्य-जीवन में ढला उसका रूप किसी प्रकार भी अशरीरी नहीं जान पड़ता।

काव्य का देशकाल से नियन्त्रित रूप विभिन्नता से शून्य नहीं हो सकता, परन्तु उसमें व्यक्त जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ परिष्कृत से परिष्कृततम होती रहती हैं, बदलती नहीं। उनका विकास कली का वह विकास है जो पंखड़ियों को पुष्ट और रंग को गहरा कर सकता है, गन्ध को व्यापकता और मधु को भारीपन दे सकता है, जीवन को पूर्णता और सौन्दर्य को सजीवता प्रदान कर सकता है, परन्तु कली को न तितली बनाने में समर्थ है, न गुबरीला।

जीवन की इसी विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की, रूप में भिन्न पर प्रेरणा में एक, शैलियाँ अपनाई हैं। जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना में जैसा है, यही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप में तो वे दोनों जीवन के उतने ही दूर पास हैं जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक और उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न, नदी के दो तट। उनमें से केवल एक से जीवन को घेरने का प्रयास प्रयास ही बनकर रह सकता है, उसे सफलता की संज्ञा देना कठिन होगा।

किसी भी युग में आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षों में परिवर्तित करके नहीं खड़े किये जा सकते,

जिनमें से एक युद्ध की आग में जल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम में गल जाना पड़ा। वे एक दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न कर सकता है, सामञ्जस्य नहीं। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ को शून्य आकाश बना सकता है।

जहाँ तक स्वप्न और सत्य का प्रश्न है, हमारे विकाश-क्रम ने उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं रहने दिया, क्योंकि एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बनता ही आया है। पाषाण-युग के वीर के लिए महाभारत के अग्निबाण स्वप्न ही रहे होंगे, कन्दरा में रहनेवाले मानव ने गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना को स्वप्न ही माना होगा, आदिम-युग के स्त्री-पुरुष ने एकपति-व्रत और एकपत्नी-व्रत का स्वप्न ही देखा होगा, हमारे युग की अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ पिछले युगों के लिए स्वप्न-मात्र थीं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है!

जब एक युग अपने पूर्णता और सामञ्जस्य के स्वप्न को इतनी स्पष्ट रेखाओं और इतने सजीव रंगों में अंकित कर जाता है कि आनेवाला युग उसे अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से सत्य बना सके और जब आगत-युग, उस निर्माण से भी भव्यतम निर्माण का स्वप्न भावी-युग के लिए छोड़ जाने की शक्ति रखता है, तब जीवन का विकास निश्चित है।

इसी क्रम से स्वप्नों को सत्य बनाते-बनाते हमारे समाज, संस्कृति, कला, साहित्य आदि का विकास हुआ है। हमारी चेतना में चेतन परमाणुओं का जैसा समन्वय है, हमारे शरीर में जड़-द्रव्य का जैसा विकासमय सन्तुलन है और हमारी सभ्यता की व्यापकता में हमारे हृदय और मस्तिष्क की वृत्तियों के साथ कार्यों का जैसा सामञ्जस्य है, वह ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता था, जिसमें आगत युग प्रत्येक साँस में, अपने अपूर्णतम यथार्थ के भी चिरञ्जीवी होने के शकुन मनाना और पिछले युग के पूर्णतम स्वप्न की भी मृत्यु-कामना करना आरम्भ कर देता है।

देश-काल के अनुसार अनेक विभिन्नताओं के साथ भी नये-युग की यात्रा वहीं से आरम्भ होगी, जहाँ पिछले युग की समाप्ति हुई थी। विकास-पथ में, चले हुए मार्ग से लौटकर फिर अन्तिम छोर से यात्रा आरम्भ करना सम्भव नहीं हो सकता, इसी से पूर्ण स्वप्न के दान और उसके सृजनात्मक आदान का विशेष मूल्य है।

यह सत्य है कि विकास-क्रम में विषमताएँ भी उत्पन्न होंगी और प्रतिक्रियाओं का भी आविर्भाव होता रहेगा। परन्तु उनका उपयोग इतना ही है कि वे हमें दृष्टि के पुञ्जीभूत धुँधलेपन के प्रति सजग कर दें, क्षितिज की अस्पष्टता के प्रति सतर्क बना दें और विकास-सूत्र की सूक्ष्मता के प्रति जागरूकता दें। जहाँ तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है उसका आधार जितना अधिक जड़भौतिक होता है, ध्वंस में उतनी ही अधिक उग्रता और सृजन में उतनी ही शिथिलता मिलती है। नींव-शेष ताजमहल

गिरकर खँडहर मात्र रह जायगा, परन्तु टूटा हुआ पर मूल-शेष वृक्ष असंख्य शाखा-उपशाखाओं में लहलहा उठेगा।

काव्य में वही क्रिया-प्रतिक्रिया अपेक्षित है, जिसमें प्रत्येक ध्वंस अनेक सृजनात्मक रूपों को जन्म देता चलता है। उसका परिवर्तन क्रम शोधे हुए संखिये के समान मारकशक्तियों को ही जीवनदायिनी बना देता है, इसी से हमारे बाह्य परिवर्तन से वह लक्ष्यतः एक होकर भी प्रयोगतः भिन्न ही रहा है। क्रूरतम परिस्थितियों और विषमतम वातावरण में भी कलाकारों की साधना का राजमार्ग एक ही रहता है।

हमारे प्रत्येक निर्माण-युग की कलाएँ स्वप्न और सत्य, आदर्श और यथार्थ के बाह्य अन्तर को पार कर उनकी मूलगत अन्योन्याश्रित स्थिति को पहचानती रही हैं। इसी विशेषता के कारण, बहिरङ्ग सौन्दर्य में पूर्ण ग्रीक मूर्त्तियों से भिन्न हमारी विशाल मूर्त्तियाँ अपनी गुरु, कठोर और स्थूल मुद्राओं में सूक्ष्मतम रहस्य के वायवी संकेत छिपाये बैठी हैं। इसी गुण से, हम धूलि की व्यथा कहकर आकाश में मेघों को घेर लानेवाली रागिनी और अन्तरिक्ष के अन्धकार को वाणी देकर पृथ्वी के दीपक जला देनेवाले राग की सृष्टि कर सके हैं। इसी सहज प्रवृत्ति से प्रेरित हमारा नृत्य केवल वासनाजनित चेष्टाओं में सीमित न होकर जीवन की शाश्वत लय को रूप देता रहा है और चित्रकला नारी को सौन्दर्य और शक्ति के व्यापक सिद्धान्त की गरिमा से भूषित कर सकी है। इसी चेतना से अनुप्राणित हमारे काव्य सत् से चित् और चित् से आनन्द तक पहुँचते तथा सुन्दर से शिव और शिव से सत्य को प्राप्त करते रहे हैं।

जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वंसात्मक अन्धकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बाँधते रहे हैं।

स्थूल उदाहरण के लिए हम रामायण और महाभारत-काल की परिमाणतः भिन्न यथार्थ-दृष्टियों को ले सकते हैं। परिस्थितियों की दृष्टि से, कर्तव्यपरायण और लोकप्रिय युवराज का, अभिषेक के मुहूर्त्त में अकारण निर्वासन, द्यूत में हारे हुए पाण्डवों के निर्वासन से बहुत अधिक क्रूर है। एक ओर पाँच पतियों और दूसरी ओर गुरुजन-परिजन से घिरी हुई अपमानित राजरानी की स्थिति से, सुदूर शत्रुपुरी में बर्बरों के बीच में बैठी हुई सहायहीन और एकाकिनी राज-तपस्विनी की स्थिति अधिक भयोत्पादक है। उत्तरभारत की आधी राजशक्तियाँ और उस क्रान्ति के सूत्रधार को लेकर युद्ध करनेवाले योद्धाओं के कार्य से उस निर्वासित वीर का कार्य अधिक दुष्कर जान पड़ता है जिसे विजातियों की सीमित सेना लेकर विदेश में, व्यक्तिगत शत्रु ही नहीं उस युग के सबसे शक्तिशाली उत्पीड़क का सामना करना पड़ा।

पर दोनों संघर्षों के परिणाम कितने भिन्न हैं! एक के अन्त में आर्य-संस्कृति की प्रवाहिनी उत्तर से दक्षिण-सीमान्त तक पहुँच जाती है, हमारे चरित्र का स्वर्ण परीक्षित हो चुकता है और हमारे

सौन्दर्य, शक्ति और शील के आदर्श जीवन में प्रतिष्ठा पाकर, उसे हिमालय के समान, सहस्र-सहस्र धाराओं में गतिशील पर मूल में अचल विशालता दे देते हैं।

दूसरी क्रान्ति के अन्त में अन्यायी और अन्याय से जूझनेवाले दोनों जूझ मरते हैं और इतना बड़ा संघर्ष कुछ भी सृजन न करके आगामी युग के लिए सीमाहीन मरु और उसके शून्य में मँडराता हाहाकार-मात्र छोड़ जाता है। संग्रामभूमि में एक ओर न्यायपक्ष का कातर वीर इतना असमर्थ है कि निष्काम कर्म की वैसाखी के बिना खड़ा ही नहीं हो सकता और दूसरी ओर भीष्म ऐसे योद्धा ऐसे विरक्त हैं कि दिन भर क्रीत सैनिकों के समान युद्ध कर रात में विपक्ष को अपनी मृत्यु के उपाय बताते रहते हैं। एक जानता है कि प्रतिपक्षी का नाश हो जाने पर उस महाशून्य में उसका दम घुट जायगा और दूसरा मानता है कि उस दुर्वह जीवन से मृत्यु अच्छी है। इन विषमताओं का कारण ढूँढ़ने दूर न जाना होगा। रामायण-काल के यथार्थ के पीछे जो सामञ्जस्यपूर्ण निर्माण का आदर्श था, वही उस जीवन को सब अग्नि-परीक्षाओं से अक्षत निकाल लाया पर महाभारत-काल की, व्यक्तिगत विरोधों में खण्डित और अकेली यथार्थ-दृष्टि कोई सृजनात्मक आदर्श नहीं पा सकी जिसके सहारे उसका न्यायपक्ष उस ध्वंसयुग के पार पहुँच पाता।

हमारे अन्य विकासशील काव्य-युगों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं। जिन यथार्थ-दर्शियों ने बीहड़ वनों में मार्ग बनाने, निर्जनों को बसाने और स्थूल जीवन की, यज्ञ से लेकर बीज तक संख्यातीत समस्याएँ सुलझाने

का मूल्य समझा वे ही प्रकृति और जीवन में समान रूप से व्याप्त सौन्दर्य और शक्ति की भावना कर सके, ज्ञान की सूक्ष्म असीमता के मापदण्ड दे सके और अध्यात्म की अरूप व्यापकता को नाम-रूप देकर अखण्ड जीवन के अमर द्रष्टा बन सके। मर्यादापुरुषोत्तम के चरित्र में भी जिसकी यथार्थ-दृष्टि भ्रान्त न हो सकी उसी कविमनीषी के सामञ्जस्य का आदर्श, क्रौञ्च पक्षी की व्यथा की थाह लेकर हमें प्रथम श्लोक और आदिकाव्य दे गया है।

हिन्दी का अमर-काव्य भी आदर्श की सीमाओं में यथार्थ का और यथार्थ के रङ्गों में आदर्श का जैसा विशाल चित्र अङ्कित कर गया है, उसमें अमिट रूपरेखाएँ ही नहीं, जीवन का शाश्वत स्पन्दन भी है। मन्दिर-मसजिद की स्थूलता से लेकर अन्धविश्वास की आडम्बरपूर्ण विविधता तक पहुँचनेवाली कबीर की उग्र यथार्थ-दृष्टि, कठोर यथार्थदर्शी को भी विस्मित कर देगी, परन्तु विषम खण्डों में उलझी हुई यही यथार्थ-दृष्टि, बिना गुणों का सहारा लिये, बिना रूप-रेखा पर विश्राम किये, अखण्ड अध्यात्म की असीमता नाप लेने की शक्ति रखती है। इसी से जुलाहे के ताने-बाने पर बुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके हैं। तुलसी जैसे अध्यात्मनिष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियों की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियों से साक्षात् किया है, स्थूलतम उलझनों और सूक्ष्मतम समस्याओं का जैसा समाधान दिया है और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ़ बन्धन में बाँधा है, वैसा किसी और से सम्भव न हो सका। क्रूर नियति ने जिसके निकट यथार्थ जगत् का

नाम अन्धकार कर दिया था उसी सूर से सूक्ष्मतम भावनाओं, कोमलतम अनुभूतियों और मिलन-विरह की मार्मिक परिस्थितियों का सबसे अधिक सजीव और नैसर्गिक चित्रण हुआ है। अमर प्रेम की स्वप्नदर्शिनी मीरा के हाथ में ही यथार्थ का विष अमृत बन सका है।

जब हमने आदर्श को अमूर्त और यथार्थ को एकांगी कर लिया तब एक बौद्धिक उलझनों और निर्जीव सिद्धान्तों में बिखरने लगा और दूसरा पाशविक वृत्तियों की अस्वस्थ प्यास में सीमित होकर घिरे जल के समान दूषित हो चला। एक ओर हम यह भूल गये कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रङ्गों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है। फलतः हमारे समग्र जीवन में जो ध्वंस का युग आया, उसे बिदा देना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। सत्य तो यह है कि सैनिक-युग, न बीते कल को सम्पूर्णता में देख सकता है और न आगामी कल के सम्बन्ध में कोई पूर्ण कल्पना कर सकता है, क्योंकि एक उसकी जय-पराजय की भूली कथा में समाप्त है और दूसरा युद्ध की उत्तेजना में सीमित। और यदि सैनिक-युग के पीछे पराजय की स्मृतियाँ और आगे निराशा का अन्धकार हो तब तो उसके निकट जीवन और वस्तुजगत् के माने ही बदल जाते हैं।

दुःख के सीमातीत हो जाने पर या तो ऐसी स्थिति सम्भव है जिसमें

मनुष्य दुःख से बहुत ऊपर उठकर निर्माण के नये साधन खोजता है, या ऐसी, जिसमें वह अपने आपको भूलने के लिए और कभी-कभी तो नष्ट करने के लिए किसी प्रकार के भी उपाय का स्वागत करता है। हमारा सुदीर्घ रीतियुग दूसरी आत्मघाती प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। संस्कृत काव्य के उत्तरार्द्ध में भी यही सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति मिलेगी जिसने काव्य ही नहीं सम्पूर्ण कलाओं पर 'रति' की मुद्रा अंकित कर हमारी जीवनशक्ति के अन्त की सूचना दी। अन्य उन्नत जातियों के निर्वाण-युग की कलाएँ भी इसका अपवाद नहीं; क्योंकि जीवन का वह नियम, जिसके अनुसार बड़े से बड़े राजकुमार को भी मुट्ठी में हीरा पीसकर नहीं पिलाया जा सकता, सबके लिए समान रहा है और रहेगा।

जो नारी, माता, भगिनी, पत्नी, पुत्री आदि के अनेक सम्बन्धों से, वात्सल्य, ममता, स्नेह आदि असंख्य भावनाओं से तथा कोमल-कठोर साधनाओं की विविधता से, पुरुष को, भूमिष्ठ होने से चितारोहण तक घेरे रहती है और मृत्यु के उपरान्त भी उसे स्मृति में जीवित रखने के लिए उग्रतम तपस्या से नहीं हिचकती, उससे सत्य यथार्थ और उससे सजीव आदर्श पुरुष को कहाँ मिलेगा? उससे पुरुष की वासना का वह सम्बन्ध भी है जो पशु-जगत् के लिए भी सामान्य है। परन्तु मानवी ने पशु-जगत् की साधारण प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठकर ही पुरुष को आज्ञाकारी पुत्र, अधिकारी पिता, विश्वासी भाई और स्नेही पति के रूपों में प्रतिष्ठित किया है; इसी से निर्माण-युग का शूर भी, प्रकृति के समान ही अनेकरूपिणी मातृजाति के वरदानों के सामने नतमस्तक हो

सका और उसका कृतज्ञ हृदय भौतिक ऐश्वर्य से लेकर दिव्य ज्ञान तक का नामकरण करते समय नारीमूर्त्ति का स्मरण करता रहा।

जब पुरुष ने, सौन्दर्य और शक्ति के इसी यथार्थ को विकलांग और जीवन के इसी आदर्श को खण्डित बना, उसे अपने मदिरा के पात्र में नाप लेने का स्वाँग करते हुए आश्वस्त भाव से कहा—बस नारी तो इतनी ही है, तब उसने अपनी बुद्धि की पंगुता और हृदय की जड़ता की ही घोषणा की।

क्रमशः हमारे सामगान का वंशज सङ्गीत, हमारी अर्चना में उत्पन्न नृत्य—सब उस समाज-विशेष की पैतृक सम्पत्ति बन गये जिसे केवल वासना की पूँजी से व्यापार करने का क्रूर कर्तव्य स्वीकार करना पड़ा।

सौन्दर्य के तारों से सत्य की झङ्कार उत्पन्न करनेवाले कवि उस सामन्तवर्ग के लिए विलास का खाद्य प्रस्तुत करने लगे जो अजीर्ण से पीड़ित था, इसी से स्त्री नाम के व्यञ्जन को अनेक-अनेक रूपों में उपस्थित करना आवश्यक हो उठा।

रसों के असीम विस्तार और अतल गहराई में कवि को निम्न वासना के घोंघे ही मिल सके और प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य की चिरन्तन सजीवता में उसे पाशविक वृत्तियों के निर्जीव उद्दीपन ही प्राप्त हुए। क्या इस प्रवृत्ति में यथार्थता नहीं? अवश्य ही है। अमृत सम्भाव्य हो सकता है पर विष तो निश्चित यथार्थ ही रहेगा। एक हमारे स्वप्नों का विषय बनता है, कल्पना का आधार रहता है, खोज का लक्ष्य हो जाता है, फिर भी सहज प्राप्य नहीं; और दूसरा प्रत्येक स्थान और प्रत्येक स्थिति में प्राप्त

होकर भी हमारे भय का कारण है, नाश का आकार है और मृत्यु की छाया है। एक को हम महान् से महान् मूल्य देकर भी पाना चाहते हैं और दूसरा मूल्यहीन भी हमें स्वीकार नहीं।

एक सम्भाव्य आदर्श, एक निश्चित यथार्थ से, एक मूल्यवान् स्वप्न एक बेदाम स्थूल से अधिक महत्त्व क्यों रखता है? केवल इसलिए कि एक हमें जीवन का अनन्त आरम्भ दे सकता है और दूसरा मृत्यु का सान्त परिणाम। इस सत्य को यदि हम तत्त्वतः समझ सकें तो रीति-युग की वासना का यथार्थ हमारे लिए नवीन उलझनों की सृष्टि न कर सकेगा। उस युग के पास यथार्थ-दृष्टि नहीं, यह कहना सत्य नहीं हो सकता, परन्तु वह दृष्टि कठफोड़े की पैनी चोंच जैसी है जो कठिन काठ को भी कुरेद-कुरेदकर उसमें छिपे कीड़े-मकोड़ों को तो उदरस्थ कर लेती है, पर उस काठ से उत्पन्न हरे पत्तों से निर्लिप्त, फूल से उदासीन और फल से विरक्त रहती है। वृक्ष का अनेकरूपी वैभव न उसे भ्रमर के समान गुञ्जन की प्रेरणा देता है, न कोकिला के समान तान लेना सिखाता है और न मधुमक्षिका के समान परिश्रम की शक्ति प्रदान करता है।

विकास-क्रम में पशुता हमारा जन्माधिकार है और मनुष्यता हमारे युगयुगान्तर के अनवरत अध्यवसाय से अर्जित अमूल्य निधि; इसी से हम अपने पूर्ण स्वप्न के लिए, सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श के लिए और उदात्त भावनाओं के लिए प्राणों की बाज़ी लगाते रहे हैं। जब हममें ऐसा करने की शक्ति शेष नहीं रहती तब हम एक मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की

ओर लौट चलते हैं, क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिए न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की।

हम अपने शरीर को निश्चेष्ट छोड़कर हिमालय के शिखर से पाताल की गहराई तक सहज ही लुढ़कते चले आ सकते हैं, परन्तु उस ऊँचाई के सहस्र अंशों में से एक तक पहुँचने में हमारे पाँव काँपने लगेंगे, साँस फूल उठेगी और आँखों के आगे अँधेरा छा-छा जायगा।

उस युग के सामने राजनीतिक पराजय, सामाजिक विशृङ्खलता और सांस्कृतिक ध्वंस का जो कुहरा था उसे भेदकर जब कलाकार यथार्थ की यथार्थता भी न देख सके तब उनसे निर्माण के आदर्श और विकास के स्वप्न की आशा करना बालू के कणों से रस की आशा करना होगा। जो विराग की सूक्ष्म रेखाओं में बँधे और सम्प्रदायों की स्थूल प्राचीरों से घिरे थे उन्होंने भी अपने युग की अस्वस्थ प्यास ही को दूसरे नाम-रूप देकर धर्म्म-सम्मत बना लिया और जिन पर, संघर्ष में लगे आश्रयदाताओं को उत्तेजित करने का भार था, उनकी दृष्टि सामयिक संकीर्णता लेकर, पक्ष के गुण और विपक्ष के दुर्गणों की अतिरञ्जना में सीमित और एकरस हो गई। इस प्रकार आदर्श से विच्छिन्न और यथार्थ से विकलांग काव्य और कलाएँ पिघलते हुए बर्फ़ की अछोर शिला के समान अपने विद्युत वेग में ध्वंस लिये हुए नीचे और नीचे ही उतरती चली आईं। जहाँ उनकी गति रुकी वहाँ आँखें मलकर हमने अपने सामने एक धुँधला क्षितिज और अपने चारों ओर एक विषम भूखण्ड पाया।

आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का वालक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अतः उनकी अन्योन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत-दिशोन्मुखी होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।

यथार्थ को जैसे-जैसे हम देखते जाते हैं वैसे-वैसे उसकी त्रुटियों को हमारी कल्पना की रेखाएँ पूर्ण करती चलती हैं, इसी से अन्त में हम उसकी विषमता पर खिन्न और सामञ्जस्य पर प्रसन्न होते हैं। उदाहरण के लिए हम एक चित्र को ले सकते हैं। उसमें एक वालक रंग के धब्बे ही देखेगा, साधारण व्यक्ति रङ्ग के साथ आकार भी देख सकेगा, पर सहृदय कलाप्रेमी रंग, रेखा आदि में व्यक्त सामञ्जस्य या विषमता का भी अनुभव करेगा। यथार्थ से उसके मूलगत आदर्श तक पहुँचने का वह क्रम मनुष्य की सामञ्जस्यमूलक भावना के विकसित रूप पर निर्भर रहता है। यथार्थ की त्रुटि जानने का अर्थ यही है कि हमारे पास उस त्रुटि से ऊपर का चित्र है, इसी से यथार्थ का वैषम्य उन्हें नहीं ज्ञात होता जिनके पास सामञ्जस्य की भावना का अभाव रहता है। रेखागणित के समान यथार्थ को जान लेना ही हमें उसके निकट परिचय का अधिकारी नहीं बना सकता; क्योंकि जब तक हम उन तारों से अपने सामञ्जस्य का स्वर नहीं निकाल लेते, वह यथार्थ और हमारे जीवन का यथार्थ, जोड़-फल के साथ रखे हुए गणित के अङ्कों जैसे ही दुर्मिल बने रहते हैं। यथार्थ, यथार्थ से एक नहीं होता, अन्यथा हमारे घरों के

खम्भे सहचर हो जाते और वृक्ष सहोदर बन जाते। एक यथार्थ दूसरी सामञ्जस्य-भावना का स्पर्श करके ही अपना परिचय देने में समर्थ हो पाता है और यह भावना जिसमें जिस अंश तक अधिक है वह उसी अंश तक यथार्थ का उपासक है।

आदर्श का क्रम इससे विपरीत होगा, क्योंकि उसमें व्यक्त सामञ्जस्य की प्रत्येक रेखा हमें यथार्थ के सामञ्जस्य या विषमता की स्मृति दिलाती चलती है; इसी से यथार्थ ज्ञान से शून्य बालक के निकट किसी आदर्श का कोई मूल्य नहीं हो सकता। यदि किसी कारण से हम कल तक का उपार्जित यथार्थ-ज्ञान भूल जावें तो आज हमारे आदर्श का चित्रपट भी शून्य होगा। इस तरह जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेतमात्र है।

साधारण रूप से हमारी धारणा बन गई है कि यथार्थ के चित्रण के लिए हमें कुछ नहीं चाहिए; परन्तु अनुभव की कसौटी पर वह कितनी खरी उतर सकती है, यह कथन से अधिक अनुभव की वस्तु है। आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती। पूर्ण और सुन्दर स्वप्न

देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिए सहज सम्भाव्य नहीं रहता, पर जब हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया तब केवल अभिव्यक्ति-सम्बन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नहीं रोक पाते। विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपकों के झरोखे, भाषा की कोमल से कठोर तक असंख्य रेखाओं की सहायता से और भावों के हल्के से गहरे तक असंख्य रंगों के सहारे वह बार-बार व्यक्त होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है। आदर्श के सम्बन्ध में अभिव्यक्ति की समस्या नहीं, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है; क्योंकि व्यक्त होते ही वह यथार्थ की परिधि में आ जाता है और इस रूप में, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिए, दूसरे की समानधर्मा-भावना की अपेक्षा होगी।

जैसे वीणा के एक तार से उँगली का स्पर्श होते ही दूसरे का अपने आप कम्पन से भर जाना उनके खिंचे-मिले रहने पर सहज और स्वाभाविक है उसी प्रकार एक व्यक्त आदर्श की अव्यक्त प्रतिध्वनि अनुकूल संवेदनीयता में आयासहीन होती है।

यथार्थ की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है, क्योंकि जो व्यक्त और स्थूल है उसे खण्डशः देख लेना कठिन नहीं, पर उन खण्डों में व्याप्त अखण्डता की भावना सहज प्राप्य नहीं। जीवन खण्ड-खण्ड में बिखरा, देश-काल में बँधा और रूप-व्यष्टि में ढला है, परन्तु उसके एक खण्ड का मूल्य इसलिए है कि वह अखण्ड पीठिका पर स्थित है, उसकी सीमा का महत्त्व इसलिए है कि वह सीमातीत आधारभित्ति पर अंकित है और

उसके एक रूप का अस्तित्व इसलिए है कि वह अरूप की व्यापक समष्टि में ढला है। यदि हम एक सीमित खण्ड को पूर्ण रूप से घेर भी लें तो जब तक हम उसे अशेष जीवन की व्यापक पीठिका पर शेष खण्डों के साथ रखकर नहीं देखते तब तक उसके कभी न घटने-बढ़नेवाले मूल्य का पता नहीं चलता और जब तक हमें इस मूल्य की अनुभूति नहीं होती तब तक उससे हमारा परिचयजनित तादात्म्य सम्भव नहीं हो पाता।

हमारे शरीर की पूर्णता के ही लिए नहीं, उपयोग के लिए भी आवश्यक अंगों का शरीर से भिन्न कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं और कोई जीवन नहीं। भावी चिकित्सक का ज्ञान बढ़ाने के लिए चीर-फाड़ के काम में आनेवाले शरीर के अंग उसका ज्ञान बढ़ाकर भी स्वयं सजीव नहीं हो जाते।

कला को चाहे प्राकृतिक चिकित्सा भी कह लिया जावे, पर वह ऐसा शस्त्र-चिकित्सा-शास्त्र कभी नहीं बन सकती जिसके जिज्ञासुओं के उपयोग के लिए, निर्जीव यथार्थ-खण्ड संवेदन-शून्यता के हिम में गाड़-गाड़कर सुरक्षित रक्खे जावें। कला के यथार्थ को सजीव तो रहना ही है, साथ ही जीवन की अशेष विशालता में अपने अधिकार का परिचय देते हुए निरन्तर पाना और अविराम देना है; अतः उसकी सीमित स्थूल रेखा से लेकर सामान्य नियम तक सब अपने पीछे एक व्यापक सामञ्जस्य की भावना चाहते हैं। इस प्रकार यथार्थ का प्रत्येक खण्ड-जीवन, अखण्ड-जीवन के आदर्श पर आश्रित हुए बिना खण्ड ही नहीं रह सकता।

उदाहरण के लिए हम एक चतुर यथार्थशिल्पी द्वारा निर्मित 'कृश, दीन और अर्धनग्न भिखारी की मूर्ति को ले सकते हैं। अपनी संसारयात्रा में हमने ऐसे अनेक विरूप खण्ड देखे हैं जिनके निकट ठहरने की, हमारे व्यस्त जीवन को इच्छा ही नहीं हुई। पर उस मूर्ति से साक्षात् होते ही हमारा जीवन अपने सम्पूर्ण आवेग से उसे घेर-घेरकर उसी प्रकार आर्द्र करने लगेगा जिस प्रकार तीव्र गतिवाला जलप्रवाह अपने पथ में पड़े हुए शिलाखण्ड की प्रदक्षिणा कर-करके उसे अपने सीकरों से अभिषिक्त करने लगता है। हमारा हृदय कहेगा—यह मेरा है! हमारी संस्कृति पूछेगी—इतना अन्तर किस लिए? हमारी बुद्धि प्रश्न करेगी—ऐसा दैन्य क्यों? इस अन्तर का कारण स्पष्ट है। कलाकार ने जब उस खण्डविशेष को जीवन की अखण्ड पीठिका पर प्रतिष्ठित और सामञ्जस्य की व्यापक आधारभित्ति पर अङ्कित करके हमारे सामने उपस्थित किया तब वह अपने स्थायी मूल्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध के साथ हमारे निकट आया और उस रूप में हमारे जीवन का सत्य उसकी उपेक्षा नहीं कर सका।

जीवन-पथ पर कङ्कड़-पत्थर के समान बिखरे और खण्डित यथार्थ को हम जो आत्मीयता नहीं देते उसी को अयाचित दिलाने के लिए यथार्थवादिनी कलाएँ उन परिचित और उपेक्षित खण्डों को एक अखण्ड भावना के रहस्यमय अञ्चल में बटोर लेती हैं। जब कला, जीवन की व्यापकता का भावन बिना किये मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के, कैमरे से खिंचे चित्रों को पास-पास चिपकाकर ही अपने चित्राधार को विराट् बनाना चाहती है

तब वह रेखाओं के जितने निकट आ जाती है, जीवन से उतनी ही दूर पहुँच जाती है।

आदर्श व्यक्ति-विशेष की अखण्ड भावना को रूप देकर उसी रूप की रेखाओं में यथार्थ के सङ्केत व्यक्त करता है। इसी से उसका क्रम यथार्थ से भिन्न रहेगा। उदाहरण के लिए वह प्रतिमा पर्याप्त होगी जिसमें कलाकार ने पूर्ण रेखाओं और प्रशान्त मुद्राओं की सीमा में एक असीम सामञ्जस्य की भावना भरकर शान्ति को नारी-रूपक में प्रतिष्ठित किया है। उसकी रेखा-रेखा से फूटती हुई सामञ्जस्य की किरणें हमारी वाष्प जैसी अरूप और हल्की भावना को धरती की मलिनता से बहुत ऊपर ले जाती हैं और वहाँ उसे जल की बूँदों-सा, आर्द्रता में गुरु रूप देकर प्यासे कणों पर झर-झर बरसा देती हैं।

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन सङ्कीर्णता धोकर उसे, बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामञ्जस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पङ्ख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे, जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रङ्गों और अनन्त रूपों में नहीं उतर सकता, तब शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है।

आदर्श और यथार्थ की कला-स्थिति के सम्बन्ध में एक समस्या और भी है। आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत् की परिधि में मुक्त हो सकता है और बाह्य जगत् में केवल व्यापक रेखाओं का बन्दी रहकर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। परन्तु यथार्थ हमारी भावना से बाहर भी, कठिन स्थूल बन्धनों के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अतः उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये, सहज नहीं। दिव्य पारिजात के साथ, पुष्पत्व की व्यापक और संसार भर के फूलों के लिए सामान्य सीमा के अतिरिक्त रङ्ग, आकार, वृन्त, पल्लव आदि के सङ्कीर्ण बन्धन नहीं हैं, इसी से हम रङ्गों के ऐश्वर्य, रूपों के कोष और पल्लव तथा वृन्तों की समृद्धि में से अपनी भावना के अनुकूल चुनाव करके उसे साकारता दे सकते हैं और हमारी इस साकारता के लिए यथार्थ हमसे कोई प्रश्न नहीं कर सकता।

इसके विपरीत गेहूँ की एक बाली का भी चित्र बनाने में हमें एक विशेष रंग खोजना होगा, पत्तियों को यथार्थ अङ्कित करना पड़ेगा, वृन्त को निश्चित आकार-प्रकार देना होगा, दानों को यथातथ्य स्थिति में रखना होगा और इतने बन्धनों के भीतर अपनी भावना के मुक्त स्पन्दन से, इस संघात-विशेष में सजीवता की प्रतिष्ठा करनी होगी।

यथार्थ के सम्बन्ध में हम दार्शनिक के समान यह कहकर सन्तोष नहीं कर सकते कि इसका रंग हमारे नेत्रों ने देखा, कोमलता त्वचा ने स्पर्श की, गन्ध घ्राणेन्द्रिय को मिली, स्वाद रसना ने ग्रहण किया और स्वर

श्रवण को प्राप्त हुआ, इसलिए यह हमारे स्पर्श, श्रवण, घ्राण, स्वाद और दृष्टि की समष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वैज्ञानिक की तरह उसके रंगरूपों के वैचित्र्यभरे संग्रह को गला-मिलाकर जड़ द्रव्य का संघातमात्र बना लेना भी, कलाकार को लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता। बालकों के प्रथम पाठ आ से आदमी के समान संज्ञा-ज्ञान बढ़ाना भी कलागत यथार्थ की चरम परिणति नहीं।

यथार्थ स्वयं ही जड़ की सचेतन अभिव्यक्ति है, अतः इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का प्रश्न सरलता ही में जटिल है। कलाकार का प्रत्यक्ष सबका प्रत्यक्ष है, इसलिए केवल नवीन रूपों के परिचय से दूसरों के प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि बढ़ाने के लिए उसे उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक दौड़ लगा-लगाकर भौगोलिक विभिन्नताओं में जीवन के विविध रूपों का संग्रह करना होगा।

हम अपने घर के समाने, न जाने कब से समाधिस्थ सूखे ठूँठ की रेखा-रेखा पहचानते हैं। अपने द्वार पर कोमल पौधे से कठोर प्रहरी बने हुए नीम को हम, पाताल में बन्दी चरणों से लेकर आकाश में उन्मुक्त शिखा तक जानते हैं। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्धी ज्ञातत्व हम कलाकार से पूछने नहीं जायँगे। परन्तु उजेली रात में आदमी, अँधेरी में प्रेत और दिन में सूखा काठ बन जानेवाले ठूँठ की अनेक स्थितियाँ ऐसी हैं जिनसे हम परिचित नहीं। इसी प्रकार वसन्त में मोतियों के चूर से जड़े मरकत परिधान में झूमते और पतझर में चरणों पर बिछे पीले पत्तों के निष्फल वैभव पर अवाक् जैसे नीम की सभी परिस्थितियों की सीमा हम नहीं समाप्त कर सके।

यथार्थ का कलाकार प्रत्यक्ष रेखाओं में किसी अपरिचित अप्रत्यक्ष स्थिति को इस प्रकार अंकित करेगा कि उसका प्रत्यक्ष हमारे प्रत्यक्ष पर फैल जावे और उसकी परिधि के भीतर हमें अप्रत्यक्ष का सौन्दर्य, जीवन की अखण्ड सजीवता के साथ प्राप्त हो।

इस सम्बन्ध में यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी अपरिचित और अप्रत्यक्ष परिस्थितियाँ न तो ठूँठ की सुलझी रेखाओं में निश्चित अङ्कगणित बन चुकी हैं और न नीम की उलझी शाखाओं में स्थायी रेखागणित हो गई हैं। वे तो कलाकार की भावना में अस्तित्व रखती हैं और वह भावना जो इन सब परिस्थितियों में व्यापक और सब प्रत्यक्ष रेखाओं के लिए सामान्य हो सकती है जीवन का अखण्ड आदर्श है।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा यथार्थ आदर्श से भिन्न क्यों माना जावे? उत्तर उनकी जीवन को व्यक्त करनेवाली विभिन्न शैलियों में मिलेगा, जिनके कारण एक का इति दूसरे का अथ बन जाता है। आदर्शवादी कलाकार जीवन की व्यापक भावना को पहले देकर उसके संकेतों में यथार्थ को अङ्कित करता है। इसी से अनेक रूपकों उपरूपकों में ढला परिचित प्रत्यक्ष, अपरिचित अप्रत्यक्ष की साकारता देकर ही सफल होता है। यथार्थवादी प्रत्यक्ष का सीमित शरीर देकर हमें उसके व्यापक और अप्रत्यक्ष स्पन्दन की अनुभूति देता है और आदर्शवादी व्यापक जीवन का भावन देकर हमें उसके सीमित रूपों का पता बताता है। दोनों का क्रम दोहरा अतएव कठिन है। इसी से प्रायः एक कलाकार अपनी सृष्टि को केवल

अन्तर्जगत् में घेर लेता है और दूसरा अपने निर्माण को केवल बाह्य जगत् में बिखरा देता है। एक के पास रंग ही रंग रह जाता है और दूसरे के पास मिट्टी ही मिट्टी, अतः एक ओर मिश्रित रंगों से सिद्धान्तों की रेखाहीन चित्रशाला प्रस्तुत की जाती है और दूसरी ओर धूल के खिलौनों का रङ्गहीन मेला लगाया जाता है। ऐसी स्थिति में आदर्श और यथार्थ को सजाने का क्रियाकलाप अन्तिम संस्कार के समारोह सा विवश, करुण पर निश्चित हुए बिना नहीं रहता। यह क्रम तब तक नहीं बदलता जब तक कलाकार के जीवन का सत्य, सौन्दर्य में प्रतिष्ठित होने के लिए विद्रोह नहीं कर उठता और जब यह विद्रोह सम्भव हो जाता है तब कलाकार कठिनाइयों की चिन्ता न करके कण-कण से शिला बने आडम्बर को उसी सहज भाव से छिन्न-भिन्न कर डालता है। जिस सरलता से मा के भृकुटि-भंग पर हँसता हुआ बालक फीके खिलौने को फेंककर चूर चूर कर देता है। तब वह आदर्श और यथार्थ के बीच की खाइयों को जीवन के सहज संवेदन से भरता हुआ उस देश में जा पहुँचता है जहाँ स्वप्न सत्य का अनुमान है और सौन्दर्य उसका प्रमाण, सूक्ष्म, विश्वचेतना का सञ्चरण है और स्थूल उसका आकार-ग्रहण।

हमारे चारों ओर एक प्रत्यक्ष जगत् है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रों तक एक विस्तृत करण-जगत् बन चुका है और बनता जा रहा है। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान में सबसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी अविश्वसनीय

प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नहीं पूर्णता में भी दृष्टि, रङ्गों के अभाव में रङ्ग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपों की उपस्थिति में भी उनकी यथार्थता बदल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर, अनुमान, स्मृति आदि की अप्रत्यक्ष छाया फैली रहती है। पर इतना सब कह-सुन चुकने पर भी यह स्पष्ट है कि हम ऊपर नीलिमा के स्थान में खोखला आकाश, टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्रों के स्थान में, अधर में लटककर वेग से घूमनेवाले विशाल ब्रह्माण्ड और पैरों तले समतल धरती के स्थान में ढालू और दौड़ते हुए गोलाकार का अनुभव कर प्रसन्न न हो सकेंगे। हमें यह विशिष्ट ज्ञान उपयोग के लिए चाहिए, पर उस उपयोग के उपभोग के लिए हम अपना सहज अनुभव ही चाहते रहेंगे। इसी कारण वैज्ञानिक ज्ञान को सीखकर भूलता है और कलाकार भूलकर सीखता है।

यथार्थ के सम्बन्ध में यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टि रखें तो वह काव्य को लक्ष्यभ्रष्ट कर देगी, क्योंकि आनन्द के लिए उसकी परिधि में स्थान नहीं। विज्ञान का यथार्थ, स्वयं विभक्त और निर्जीव होकर ज्ञान की उपलब्धि सम्भव कर देता है, पर काव्य के यथार्थ को, अपनी सीमित सजीवता से ही एक व्यापक सजीवता और अखण्डता का परिचय देना होगा। और केवल ज्ञानाश्रयी कवि यथार्थ को ऐसे उपस्थित करने की शक्ति नहीं रखता।

साधारणतः मनुष्य और संसार की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञान, अनुभूति सब, संस्कारों का ऐसा रहस्यमय ताना-बाना बुनते चलते हैं जो

एक ओर हृदय और मस्तिष्क को जोड़े रहता है और दूसरी ओर जीवन के लिए एक विस्तृत पीठिका प्रस्तुत कर देता है। जिसके पास यह संस्कार-आकाश जितना व्यापक, सामञ्जस्यपूर्ण और सुलभा हुआ होगा वह यथार्थ को उतनी ही सफल जीवन-स्थिति दे सकता है। इस संस्कार की छिन्नभिन्नता में हमें ऐसा यथार्थवादी मिलेगा जो जीवन को विरूप खण्डों में बाँटता चलता है और इसके नितान्त अभाव में वह विक्षिप्त सम्भव है जो सुख-दुखों का अनुभव करने पर भी उन्हें कोई सामान्य आधारभित्ति नहीं दे पाता।

संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामञ्जस्य की स्थिति बनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अंश तक विरूप है जिस अंश तक वह जीवनव्यापी सामञ्जस्य को छिन्न-भिन्न करती है। अतः यथार्थ का द्रष्टा जीवन की विविधता में व्याप्त सामञ्जस्य को बिना जाने, अपना निर्णय उपस्थित नहीं कर पाता और करे भी तो उसे जीवन की स्वीकृति नहीं मिलती। और जीवन के सजीव स्पर्श के बिना केवल कुरूप और केवल सुन्दर को एकत्र कर देने का वही परिणाम अवश्यम्भावी है जो नरक स्वर्ग की सृष्टि का हुआ।

संसार में सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला, क्योंकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन चुन कर ऐसे ब्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने कोने में नरक गढ़ा जाने लगा। इसके उपरान्त,

उसे, यथार्थ के अकेले सुखपक्ष को पुञ्जीभूत कर इस तरह सजाना पड़ा कि मनुष्य उसे खोजने के लिए जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य में यथार्थ के ऐसे ही एकांगी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते हैं। एक ओर यथार्थद्रष्टा केवल विरूपताएँ चुन कर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीरकर स्थूल सुखों की प्रदर्शनी रचता है। केवल उत्तेजक और वीप्साजनक काव्य और कलाओं के मूल में यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनों सीमाओं से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना होगा, क्योंकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।

यथार्थ यदि सुन्दर है तो यह पृष्ठभूमि तरल जल के समान उसे सौ-सौ पुलकों में झुलाती है और यदि विरूप है तो वह तरल कोमलता हिम का ऐसा स्थिर और उज्ज्वल विस्तार बन जाती है जिसकी अनन्त स्वच्छता में एक छोटा सा धब्बा भी असह्य हो उठता है। इस आधारभित्ति पर जीवन की कुत्सा देखकर हमारा हृदय काँप जाता है, पर एक अतृप्त लिप्सा से नहीं भर आता।

यदि यथार्थ को केवल इतिवृत्त का क्रम मान लिया जावे तो भी व्यक्तिगत भावभूमि पर अपनी स्थिति रखकर ही वह काव्य के उपयुक्त संवेदनीयता पा सकता है। इस भावभूमि से सर्वथा निर्वासित इतिवृत्त का सबसे उपयुक्त आश्रयस्थल इतिहास ही रहेगा।

चरम सीमा पर यथार्थ जैसे विक्षिप्त गतिशील है वैसे ही आदर्श निष्क्रियता में स्थिर हो जाता है। एक विविध उपकरणों का ववंडर है और दूसरा पूर्ण निर्मित पर अचल मूर्ति। साधारणतः जीवन में एक ही व्यक्ति यथार्थदर्शी भी है और आदर्श-स्रष्टा भी, चाहे उसका यथार्थ कितना ही अपूर्ण हो और आदर्श कितना ही संकीर्ण। जीवन की ऐसी स्थिति की कल्पना तो पशुजगत् की कल्पना होगी जिसमें वाह्य संसार का ज्ञान मनुष्य के अन्तर्जगत् में किसी सम्भाव्य संसार की छाया नहीं आँकता। जो है, उसके साथ हमारे सक्रिय सहयोग के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि इसे कैसा होना चाहिए।

संसार से आदानमात्र मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं देता, उसे प्रदान का भी अधिकार चाहिए और इस अधिकार की विकसित चेतना ही आदर्श का पर्याय है। छोटा सा बालक भी दूसरे की दी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए जितना उत्सुक होगा उन्हें अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार रखने, जोड़ने-तोड़ने आदि के लिए भी उतना ही आकुल मिलेगा। सभ्यता, समाज, धर्म, काव्य आदि सभी मनुष्य और संसार के इसी चिरन्तन आदान-प्रदान के इतिहास हैं।

साधारण रूप से आदर्श से यही समझा जाता है कि वह सत्य की जय, असत्य की पराजय आदि आदि जीवन में असम्भव पर कल्पना में सम्भव कार्य-कारण का नाम है। इस धारणा के कारण हैं।

सम्भाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर्जगत् के संस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते रहते हैं, इसी से समय-समय पर धर्म, नीति आदि ने उन्हें अपने विकास का साधन बनाया। जिस युग का प्रधान लक्ष्य धर्म रहा उसमें सत्य आदि गुणों के आदर्श चरम सीमा तक पहुँचकर ही सफल हो सके। जिस युग का दृष्टिबिन्दु सामाजिक विकास था उसमें कर्तव्य-सम्बन्धी आदर्श उच्चतम सीमा तक पहुँच गये। जिस समय संघर्ष की सफलता ही अभीष्ट रही उस समय जय के आदर्श की उज्ज्वलता में साधनों की मलिनता भी छिप गई। जब, जो विशेषता आवश्यक नहीं रही तब उससे सम्बन्ध रखनेवाला असाधारण आदर्श, जीवन के पुरातत्त्व विभाग की स्थायी सम्पत्ति बना दिया गया और साधारण आदर्श गौण रूप से प्रयोग में आता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का कोई स्थान नहीं, राम के संघर्ष में बुद्ध की अहिंसा का कोई महत्त्व नहीं।

युग-विशेष में उत्पन्न कवियों ने भी अपने युग के आदर्श को असाधारणता के साथ काव्य में प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, वह आदर्श कहीं भी पराजित न हो सके, इसकी ओर भी उन्हें सतर्क रहना पड़ा। फिर भी यह सत्य है कि वे एकांगी नहीं हो सके।

काव्य हमारे अन्तर्जगत् में मुक्ति का ऐसा अनुभव कर चुकता है कि उससे बाह्य जगत् के संकेतों का अक्षरशः पालन नहीं हो पाता। रामायणकार ऋषि का दृष्टिबिन्दु कर्तव्य के युग से प्रभावित था अवश्य,

पर उसने युग के प्रतिनिधि कर्तव्यपालक की भी त्रुटियाँ को छिपाने का प्रयास नहीं किया। राजा के चरम आदर्श तक पहुँचकर भी वह जब साध्वी पर परित्यक्त पत्नी की फिर अग्निपरीक्षा लेना चाहता है, तब वह नारी उस कर्तव्यपालक के पत्नीत्व के बदले मृत्यु स्वीकार कर लेती है। जीवन के अन्त में एकांगी कर्तव्य की जैसी पराजय ऋषिकवि ने अंकित की है उसकी रेखा-रेखा में मानो उनका भ्रूभंग कहता है—बस इतना ही तो इसका मूल्य था।

विजय केन्द्रबिन्दु होने पर भी महाभारत में असत्य साधनों को उज्ज्वलता नहीं मिल सकी। संघर्ष सफल हो गया, कहकर भी कवि ने उस सफलता की उजली रेखाओं में ग्लानि का इतना काला रंग भर दिया है कि विजयी ही नहीं आज का पाठक भी काँप उठता है।

जीवन के प्रति स्वयं आस्थावान् होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बनकर उपस्थित होता है। शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल सौन्दर्य और सहज विश्वास की हत्या है; उसे कवि कल्पना में भी नहीं अंगीकार करेगा, पर उस सौन्दर्य और विश्वास को ठुकरानेवाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप में से वह लेशमात्र भी नहीं घटाता। इतना ही नहीं, जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन में अनायास हो गई थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पड़ता है और दिव्यभूमि पर, अपराधी याचक के रूप में खड़ा भी होना पड़ता है।

सारांश यह कि अपने युगसीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते रहे हैं। जैसे शिष्य के बनाये पूर्ण चित्र में भी कलाकार-गुरु अपनी कुशल उँगलियों में थमी तूली से कुछ रेखाएँ इस तरह घटा-बढ़ा देता है, कहीं-कहीं रङ्ग इस तरह हल्के गहरे कर देता है कि उसमें एक नया रहस्य यत्र-तत्र झलकने लगता है, वैसे ही प्राचीन ऋषि-कवियों ने अपने युग की निश्चित रेखाओं और पक्के रङ्गों के भीतर से युगयुगान्तरव्यापी जीवनरहस्य को व्यक्त कर दिया है। आज का युग उनसे इतना दूर है कि उस रहस्यलिपि को नहीं पढ़ पाता, अतः केवल निश्चित रङ्ग-रेखा को ही सब कुछ मान बैठता है।

आधुनिक युग में बुद्धि का आदर्श भी वैसा ही असाधारण हो गया है जैसा किसी समय सत्य, त्याग, कर्तव्य आदि का था। सत्य की विजय अनिवार्य है या मिथ्या का बुरा परिणाम अवश्यम्भावी है आदि में कार्य-कारण की सम्भाव्य स्थिति भी निश्चित मान ली गई है। परन्तु बौद्धिक विकास की चरम सीमा ही मनुष्य की पूर्णता है, भौतिक उत्कर्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, आदि में भी वैसा ही कल्पित कार्य-कारण सम्बन्ध है; क्योंकि जीवन में न तो सब जगह बुद्धिवादी ही पूर्ण मनुष्य है और न भौतिक विकास का चरमबिन्दु जीवन की एकमात्र सार्थकता है। जब हमारा युग भी अतीत युगों में स्थान पा लेगा तब नवागत युग हमारे असाधारण बौद्धिक और भौतिक आदर्शों को उसी दृष्टि से देखेगा जिस दृष्टि से हम अपने अतीत आदर्श-वैभव को देखते हैं।

आधुनिक युग के आदर्शों में ही असाधारणता नहीं, उनकी काव्य-स्थिति भी वैसी ही एकांगी है। आज का कवि भी अपने युग के आदर्शों को काव्य में प्रतिष्ठित करता है और उनकी एकान्त विजय के सम्बन्ध में सतर्क रहता है। पर आदर्श को संकीर्ण अर्थ में न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति का भावन मात्र मान लें तो वह हमारे एकांगी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को सन्तुलन दे सकता है।

आज के युग के सामने निर्माण का जैसा विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र है, उसे देखते हुए हम आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी प्रश्नों को बौद्धिक व्यायाममात्र नहीं मान सकेंगे।

कोई भी जाति अपने देशकालगत यथार्थ के निरीक्षण और परीक्षण के बिना वर्तमान का मूल्याङ्कन नहीं कर पाती और सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना के बिना भविष्य की रूपरेखा निश्चित करने में असमर्थ रहती है। यह कार्य साहित्य और कला के क्षेत्र में जितना सहज, सुन्दर और संप्रेषणीय रूप पा लेता है उतना जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं। सच्चा कलाकार व्यवसायिक कम पर संवेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ के सम्बन्ध में सन्तुलित और आदर्श के सम्बन्ध में व्यापक रहकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है। लक्ष्य से ऊपर दृष्टि रखकर हम लक्ष्यवेध करने में समर्थ हो सकते हैं, पर उससे नीचे दृष्टि को केन्द्रित कर, लक्ष्य को छू पाना भी सम्भव नहीं।

हमारा सुन्दर स्वप्न और उसे साकारता देने का दृढ़ सङ्कल्प हमारे सूक्ष्म मनोजगत् में मुक्त हैं परन्तु हमारी क्रिया, शारीरिक शक्ति और व्यवहार-जगत् की परिस्थितियों से सीमित रहेगी। अपनी शक्ति और विशेष परिस्थितियाँ एक व्यक्ति दूसरे को दे नहीं पाता। पर अपने स्वप्न को अखण्ड सौन्दर्य के साथ और अपने सङ्कल्प को सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग के साथ वह दूसरे के अन्तर्जगत् में इस तरह संप्रेषित कर सकता है कि दूसरा व्यक्ति अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार उन्हें साकारता देने के लिए विकल हो उठे। कलाकार की प्रेरणा भी ऐसी ही अन्तर्मुखी होती है, अतः इसे सक्रियता देने के लिए यथार्थ का ज्ञान ही नहीं सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श का भावन भी आवश्यक रहेगा।

सामयिक समस्या

हमारे आधुनिक जागरण-युग की प्रेरणा दोहरी है—एक वह जिसने अन्तर की शक्तियों को फिर से नापा-तोला, जीवन के विषम-खण्डों में व्याप्त एकता को पहचाना तथा मानसिक संस्कार को प्रधानता दी और दूसरी वह जिसने यथार्थ जीवन के पुनर्निर्माण की दिशा की खोज की, उसमें नवीन प्रयोग किये और अन्तर की शक्तियों को कर्म में साकारता दी। यह दोनों क्रम मिलकर विकास पाते रहे हैं, अतः यह कहना कठिन है कि एक की सीमा का अन्त कहाँ होता है और दूसरे के आरम्भ का विन्दु कहाँ है, परन्तु इन दोनों प्रवृत्तियों ने आदर्शोन्मुख और यथार्थानुगत दो विभिन्न विचार-धाराओं को गति दी है।

छायायुग का काव्य द्विवेदी-युग के आदर्शात्मक उपयोगितावाद के विरोध में उत्पन्न और नवीन जागरण की आलोक-छाया में विकसित हुआ। इसी से अन्तर की ओर झाँकने की प्रवृत्ति उसका स्वभाव है और यथार्थोन्मुख इतिवृत्तात्मकता का उसमें अभाव है। सामयिक परिस्थितियाँ भी इस प्रवृत्ति के विकास में सहायक हुईं। यह प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः हृदय और परोक्षतः बुद्धि का सहारा लेकर कभी व्यक्तिगत हर्षविषाद और कभी समष्टिगत करुणा को सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करने लगी। यथार्थ जीवन की विषमता का चित्र न देकर कवियों ने कहीं

विषमता के प्रभाव और कहीं सामञ्जस्य के भाव को वाणी दी है, पर इतिवृत्तात्मक यथार्थ का प्रश्न भी उनके मन में बार-बार उठता रहा। रहस्योपासक प्रसाद का कङ्काल जैसा उपन्यास, दार्शनिक रचनाओं के आचार्य निराला की भिखारी जैसी रचनायें और व्यङ्गभरा गद्य, पल्लव के कवि की पाँच कहानियाँ आदि में अन्तर्मुखी प्रेरणा का यथार्थ से परिचय है। भावभूमि पर परम सुकुमार ये कवि तर्कभूमि पर कितने कठोर हो जाते हैं, इसे बिना जाने हम छायावाद के साथ न्याय न कर सकेंगे।

आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवाद जब अनुभूतियों को भावभूमि से हटाकर तर्कभूमि पर प्रतिष्ठित करने लगा तब हमें वह यथार्थवादी काव्य प्राप्त हो सका जो बुद्धि की प्रधानता के कारण नया, पर यथार्थोन्मुखी प्रेरणा के कारण पुराना कहा जायगा। सफल यथार्थ काव्य के लिए अनुभूतियों को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया में रखना उचित था जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।

गद्य तार्किक सत्य दे सकता है पर काव्य में सत्य का रागात्मकरूप ही अपेक्षित रहेगा। जीवन की विषमता का समाधान खोजने में व्यस्त कवि इस प्रत्यक्ष सत्य की ओर ध्यान देने का अवकाश न पा सका। अतः शुद्ध तर्कवादिनी पदावली ही इतिवृत्त का नवीन माध्यम बनने लगी। उसमें मर्मस्पर्शिता का जो अभाव मिलता था उसे काव्य की त्रुटि न मानकर नवीनता का अनिवार्य परिणाम मान लिया गया। कहना व्यर्थ होगा कि

इस कार्य्य-कारण में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व लिखित काव्यों की सर्वथा भिन्न परिस्थितियाँ और अपरिचित इतिवृत्त जब हमारे हृदय को प्रभावित कर सकते हैं तब अपने युग के यथार्थ में प्रभविष्णुता का अभाव अपरिचयमूलक नहीं माना जा सकता। छायावाद स्वयं एक अति परिचित और प्रतिष्ठित काव्य-धारा से भिन्न नवीन रूप में उपस्थित हुआ था, पर उसे हृदय तक पहुँचते देर नहीं लगी। भाव के माध्यम से आनेवाली अलौकिक अनुभूतियाँ भी इतनी परिचित हो सकीं कि उनकी उपयोगिता के प्रति संदिग्ध यथार्थवादी भी उनके माधुर्य और मर्मस्पर्शिता को अस्वीकार नहीं कर पाता।

साधारणतः कवि की प्रथम रचना में छंद, भाषा आदि की त्रुटियाँ रहने पर भी ऐसा भावातिरेक मिलता है जो अन्य प्रौढ़ रचनाओं में सुलभ नहीं। छायायुग के कवियों ने अपनी किशोरावस्था में जो काव्य-सृजन किया है वह भावाधिक्य के कारण शुद्ध काव्य की दृष्टि से विरोधियों की कसौटी पर भी खरा उतरता है। पर भाव और संवेदनीयता की न्यूनता के कारण नवीन रचनाएँ इतनी अशक्त हैं कि उनके समर्थक नवीनता की दोहाई देकर निष्पक्ष कसौटी से भी उन्हें बचाने का प्रयत्न करते हैं।

इसे काव्य की ऐसी त्रुटि कहना चाहिए जो सब काल और सब विचार-धाराओं में सम्भव होने के कारण विषय-निरपेक्ष रहेगी। इन रचनाओं ने मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री भले ही दी हो, पर हृदय को उसमें अपने अभाव की कोई पूर्त्ति प्राप्त न हो सकी। परिणामतः जैसे ठंढे जल

की धारा के नीचे जाते ही गर्म जल की धारा ऊपर की सतह पर आ जाती है उसी प्रकार काव्य की मूल प्रेरणा के दबते ही सस्ती उत्तेजना-प्रधान रचना अपना परिचय देने लगी। बुद्धि ने जिस हृदय की उपेक्षा कर डाली उसी को चंचल बनाने का लक्ष्य लेकर यह काव्य यथार्थ का उत्तेजक पर कुत्सित पक्ष सामने रखने लगा। ऐसा यथार्थवाद, आदर्श और उपयोगिता को महत्त्व देनेवाले पिछले युग में भी उपस्थित था। अन्तर केवल इतना ही है कि वह सुधार का लक्ष्य सामने कर अपनी वाञ्छनीयता को प्रमाणित करता था और यह प्रगति का प्रश्न आगे रखकर अपनी अवाञ्छनीय स्थिति का समर्थन चाहता है। जिस युग में काव्य ,हृदय का साथ छोड़कर स्वस्थ होने की इच्छा रखता है उसमें उसे प्रायः उत्तेजक स्थूल की बैसाखी के सहारे चलना पड़ता है और इस प्रकार वह रहे-सहे स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है।

जिन्हें यथार्थ का उत्तेजक रूप उपयुक्त नहीं जान पड़ा उन्होंने पिछले युग की राष्ट्रीय भावना को नवीन रूप में व्यक्त किया—इस प्रकार हमें कुछ नवीन और कुछ पुरातन विचार-धाराओं के संयोग से आज के काव्य की रूपरेखा मिल रही है।

साधारणतः नवीन काव्यधारा ने अभी छायावाद की बाह्य रूपरेखा नहीं छोड़ी; केवल शब्दावली, छन्द, ध्वनि आदि में एक निरन्तर सतर्क शिथिलता लाकर उसे विशेषता मान लिया है। अपने प्रारम्भिक रूप में ही यह रचनाएँ पर्याप्त भिन्नता रखती हैं जिससे हम उनमें व्यक्त विभिन्न विचारधाराओं से सहज ही परिचित हो सकते हैं।

इस काव्य की एक धारा ऐसी चिन्तनप्रधान रचनाओं को जन्म दे रही है जिनमें एक ओर विविध बौद्धिक निरूपणों के द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता चलता है और दूसरी ओर पीड़ित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का व्यक्तीकरण। इन रचनाओं के मूल में वर्त्तमान व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया अवश्य है, परन्तु वह मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों में उत्पन्न न होकर उसके ठंढे चिन्तन में जन्म और विकास पाती है, अतः उसमें आवश्यक भावप्रवेग का नितान्त अभाव स्वाभाविक ही है।

दूसरी धारा में पिछले वर्षों के राष्ट्रीय गीतों की परम्परा ही कुछ अतिशयोक्ति और उलटफेर के साथ व्यक्त हो रही है। ऐसी रचनाओं में कवि का अहंकार स्वानुभूत न होकर रूढ़ि मात्र बन गया है, इसी से वह प्रलयङ्कर, महानाश की ज्वाला आदि रूपकों में व्यक्त क्षणिक उत्तेजना में फुलझड़ी के समान जलता-बुझता रहता है। असंख्य निर्जीव आवृत्तियों के कारण यह शब्दावली अपना प्रभाव खो चुकी है; कवि जब तक सचाई के साथ इसमें अपने प्राण नहीं फूँक देता तब तक यह कविता के क्षेत्र में विशेष महत्त्व नहीं पाती।

तीसरी काव्यधारा की रूपरेखा आदर्शवाद की विरोध-भावना से बनी है। इसमें एक ओर यथार्थ की छाया में वासना के वे नग्न चित्र हैं जो मूलतः हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के वे घृणित कुत्सित रूप जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न हैं। एक में भावना की परिणति का अभाव है और दूसरे में

संवेदनीय अनुभूति का; अतः यह कृतियाँ हमारे सामने केवल एक विचित्र चित्रशाला प्रस्तुत करती हैं।

यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव में यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियों के हल्के से हल्के और गहरे से गहरे रङ्गों के प्रयोग में बहुत सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना में बहुरङ्गी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप-रूपान्तरों में से किसी एक में प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्नरूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।

भविष्य में इस यथार्थ की जो दिशा होगी उसकी कल्पना अभी समीचीन नहीं हो सकती।

इतना स्पष्ट है कि श्रमिकों की वाणी में बोलनेवाली यह कविता ऐसे मध्यम वर्ग के कण्ठ से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित और अपने जीवन की विषमता से पूर्णतः क्लान्त है; अतः इसे

समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठभूमि चाहिए। हमारा जातीय इतिहास प्रमाणित कर देगा कि सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह वर्ग बदलती हुई परिस्थितियों से उच्चवर्ग की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। संख्या में हल्के और सुविधाओं में भारी उच्चवर्ग ने किसी भी संघर्ष में अपनी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। मध्ययुग में विजेताओं से कुछ समय तक संघर्ष कर तथा संख्या में कुछ घट कर जब उच्चवर्ग फिर पुरानी स्थिति में आ गया तब मध्यम वर्ग की समस्याएँ ज्यों की त्यों थीं। उनमें से कुछ ने राजदरबारों में शृंगार और विलास के राग गाये, कुछ ने जीवन को भक्ति और ज्ञान की पूत धाराओं में निमज्जित कर डाला और कुछ फ़ारसी पढ़-पढ़कर मुंशी बनने लगे।

उसके उपरान्त फिर इसी इतिहास की आवृत्ति हुई। जब उच्चवर्ग नये पाश्चात्य शासकों की वरद छाया में अपने पुराने फीके जीवन पर नई सभ्यता का सुनहला पानी फेर रहा था तब मध्यम वर्ग में अधिकांश के जीवन में अँगरेज़ी सीखकर केवल क्लर्क बनने की साधना वेगवती होती जा रही थी। इस साधना की सफलता ने उसे यन्त्र मात्र ही रहने दिया, पर तब भी उसकी यह धारणा न मिटी कि उसका और उसकी सन्तान का कल्याण केवल इसी दिशा में रक्षित है।

इस बीच में सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए नई प्रेरणा मिलने का कहीं अवकाश ही न था। पुरानी जीर्ण-शीर्ण व्यवस्थाओं के भीतर हमारा सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर विकृत होने लगा। संस्कृति के नाम पर जो कुछ प्रचलित रूढ़ियाँ थीं वे जीवन में और कोई द्वार न पाकर

धर्म और साहित्य में फैलने लगीं। इस पंक में कमल भी खिले अवश्य, परन्तु इससे जल की पंकिलता में अन्तर नहीं पड़ता।

ऐसे ही समय में भारतेन्दु-युग की कविता में बिखरे देशप्रेम को हमारी राष्ट्रीय भावना में विकास पाने का अवसर मिला। साधारणतः जीवन की व्यष्टिगत चेतना के पश्चात् ही समष्टिगत राष्ट्रीय चेतना का उदय होना चाहिए। परन्तु साधन और समय के अभाव में हम इस चेतना का आवाहन केवल असुविधाओं के भौतिक धरातल पर ही कर सके; इसी से शताब्दियों से निर्जीवप्राय जनसमूह सक्रिय चेतना लेकर पूर्णरूप से अब तक न जाग सका।

मध्य वर्ग का इस जागृति में क्या स्थान है यह बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु इसके उपरान्त भी उसकी स्थिति अनिश्चित और जटिलतर होती गई। हमारी राष्ट्रीय चेतना एक विशेष राजनीतिक ध्येय को लेकर जाग्रत हुई थी, अतः जीवन की उन अन्य व्यवस्थाओं की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं मिला जो जीवन की व्यष्टिगत चेतना से सम्बन्ध रखती थीं।

यह स्वाभाविक ही था कि जीवन की बाह्य व्यवस्था में विकास न होने के कारण हमारी सब प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर हमारे भावजगत् को अत्यधिक समृद्ध कर देतीं। छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर्गत सूक्ष्मतम अनुभूतियों के कोमलतम मूर्त रूप, भावना के हल्के रङ्गों का वैचित्र्य, वेदना की गहरी रेखाओं की विविधता, करुणा का अतल गाम्भीर्य और सौन्दर्य का असीम विस्तार हमारी उपर्युक्त

धारणा का समर्थन कर देते हैं। परन्तु इन सौन्दर्य और भावना के पुजारियों को भी उसी निष्क्रिय संस्कृति और निष्प्राण सामाजिकता में अपना पथ खोजना पड़ा है। वे मध्य युग के सन्त नहीं हैं जो 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' कहकर बाह्य जीवन-जनित निराशा से बच जाते।

इनके साथ उस नवीन पीढ़ी का उल्लेख भी उचित होगा जो रूढ़िग्रस्त मध्य वर्ग में पली और जीवन का अधिकांश जीवन को भुलाने में बिताकर संसारयात्रा के लिए केवल स्वप्न और भावुकता का सम्बल लिये हुए विद्यालयों से बाहर आई। जीवन की व्यवस्था में अपनी स्वप्न-सृष्टि का कोई स्थान न पाकर उसकी मानसिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ वह अनेकरूपी है। इनमें से कुछ के अनमिल स्वर हमें छायावाद की रागिनी में सुन पड़ते हैं और कुछ के प्रगतिवाद के शङ्ख में। गान्धीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि ने भी इन्हें प्रवाह में पड़े हुए पत्थर जैसी स्थिति दे दी है, क्योंकि उनमें से किसी विचारधारा के साथ भी वे अपने जीवन का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाते।

इस प्रकार के सामूहिक असन्तोष और निराशा की पृष्ठभूमि पर जो प्रतिक्रियात्मक काव्य-रचना हो रही है वह बौद्धिक निरूपणों से बोझिल है। जिन व्यवस्थाओं में जीवन का उपयुक्त समाधान नहीं मिला उसकी कला-कसौटियों और काव्य के उपादानों पर उसे खीझ है। वास्तव में इस प्रगति के भीतर मध्यवर्ग की क्रान्ति ही गतिशील है। कवियों ने कुछ साम्यवाद के प्रतीकों के रूप में, कुछ ग्रामों की ओर लौटने की

देशव्यापी पुकार से प्रभावित होकर और कुछ अपनी सहज संवेदना से, जिस पीड़ित, दलित और अपनी वेदना में मूर्छित वर्ग को काव्य का विषय बनाया है उसके जीवन में वे घुल-मिल नहीं सके। इसी से कहीं वह बुद्धि की दौड़ के लिए मैदान बन जाता है, कहीं भावनाओं को टाँगने के लिए खूँटी का काम देता है और कहीं निर्जीव चित्रों के लिए चेतनाहीन आधार बनकर ही सफलता पाता है। अवश्य ही करुणा को भी रुला देनेवाले इस जीवन के कुछ सजीव चित्रण हुए हैं, परन्तु वे नियम के अपवाद जैसे हैं।

इतिहास के क्रम में हमारी विचार-शृङ्खला की कड़ी बनकर तो यह यथार्थवाद सदा ही रह सकता है, पर काव्य में अपनी प्रतिष्ठा के लिए उसे कला की रूपरेखा में बँधना ही पड़ेगा। छायावाद-युग की सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना-शैली चाहे उसके लिए उपयुक्त न हो, परन्तु कला के उस सहज, सरल और स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रति उसकी सतर्क विरक्ति उचित नहीं जो जीवन के घृणित, कुत्सित रूप के प्रति भी हमारी ममता को जगा सकता है।

इसके अतिरिक्त विचारों के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमें अपने केवल बौद्धिक निरूपणों और वादविशेष-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए कविता की सहायता की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गाई जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीत की सीमा में, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।

यथार्थदर्शी कवि यदि अपने ही समाज के जीवन को बहुत सचाई से व्यक्त करता तो शुष्क सिद्धान्तवाद के स्थान में सजीवता और स्वाभाविकता रहती। पर उस जीवन के साथ कवि की स्थिति वैसी ही है जैसी नीम के तने से फूट आनेवाली पीपल की शाखा की। वह नाम से चाहे पीपल कहलाये, परन्तु अपने पोषण के लिए तो उसी नीम पर आश्रित रहेगी, अतः नीम से भिन्न उसकी स्थिति शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अपने समाज की सृष्टि होने के कारण वह उस जीवन की कृत्रिमता और विषमता के स्पर्श से रहित नहीं और जब अपनी ही विरूपता का विस्तार या संकोच देखना हो, तो न दर्पण का आकाश विशेष आकर्षण रखता है, न छोटी आरसी।

उपर्युक्त परिस्थितियों में कवि ने जिस चिर उपेक्षित मानवसमष्टि से बल प्राप्त करना चाहा उसके प्रति भी उसके दो कर्तव्य आवश्यक हो उठे—एक तो उस जीवन को इतनी सजीवता से चित्रित करना कि उपेक्षा करनेवाले उस ओर देखने पर विवश हों और दूसरे उन मानवों में इतनी चेतना जाग्रत करना कि वे स्वयं अपना महत्त्व समझें और दूसरों को समझा सकें। दोनों ही लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए उस जीवन का निकट परिचय पहली सीढ़ी है।

यदि आज का कवि अपनी बौद्धिक ऊँचाई से उतनी निम्न भूमि पर उतर सकता तो उस धरातल के जीवों के कण्ठ में वाणी आ जाने की भी सम्भावना थी और इनके कण्ठ में सत्य का बल आ जाने की भी। उस स्थिति में उस जीवन के चित्र इतने सजीव और बोलते हुए बन जाते कि

उपेक्षा करनेवाले न उन्हें अनदेखा कर पाते न अनसुना। यह उससे नहीं हो सका, क्योंकि मनुष्य का अहंकार ऐसा है कि प्रासादों का भिखारी, कुटी का अतिथि देवता बनना भी स्वीकार नहीं करेगा।

केवल बौद्धिक चेतना के कारण यथार्थोन्मुख कवि ने उस पीड़ित-जीवन के मानचित्र और विकृतियों की रेखागणित लेकर ही कार्य आरम्भ किया था। जैसे-जैसे यह साधन अधिक अपटु और कम सहृदय व्यक्तियों के हाथ में पड़ते जाते हैं वैसे-वैसे अपने संकेत और सार्थकता खोते जाते हैं। दलित जीवन की सुनी-सुनाई शोककथा का जैसा प्रदर्शन होता है वह आँसुओं के अभाव और शरीर के व्यायाम से भरे-पूरे स्यापे के निकट आता जा रहा है जिसमें मृतक के गुण गा-गाकर उसकी परोक्ष आत्मा को शोकाञ्जलि दी जाती है। सिद्धान्तों की रक्षा इस प्रकार हो सकती है, परन्तु प्रेरणा-सम्बन्धी समस्या का तो यह समाधान नहीं।

इन अधूरे चित्रों का आधार तो उस बलिपशु के समान है जो न देवता का ज्ञान रखता है, न कुमकुम-फूल चढ़ानेवाले को जानता है और न वधिक को पहचानता है।

जहाँ तक उपेक्षा करनेवालों का प्रश्न है वे तो युगों से इन स्पन्दित कङ्कालों को देखते आ रहे हैं। जब यही उनके हृदय को नहीं छू पाते तब कोरे सिद्धान्त उन्हें कैसे प्रवाहित करेंगे! उनके कठोर स्तरों के भीतर एक हृदय होने की सम्भावना है, परन्तु उसे संवेदनशील बनाने के लिए जीवन का बहुत निश्चित और मार्मिक स्पर्श चाहिए, केवल प्रवचन और व्याजनिन्दा नहीं। इसके अतिरिक्त जीवन सम्पर्क से शून्य सिद्धान्तवाद

ही विकृति की उर्वरा भूमि है। समाज, धर्म, नीति, साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र में सिद्धान्त, जीवनव्यापी सत्य का प्रयोग रूप होकर ही उपस्थित हो सकते हैं, अतः उनके प्रयोक्ता जीवन की जितनी गहरी अनुभूति रखते हैं उतना ही व्यापक ज्ञान। उनके परवर्ती आलस्य और प्रमादवश ज्यों-ज्यों जीवन से दूर हटते जाते हैं त्यों-त्यों लीक पीटने की परम्परा ही गति का पर्याय बनती जाती है।

आज के सिद्धान्त कल्याणोन्मुख होने पर भी यदि जीवन की दूरी में ही जन्म और विकास पा रहे हैं तो उनका भविष्य और भी सन्दिग्ध हो जाता है। यदि इस अभिशप्त युग का सन्तप्त पर प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार ही जीवन के निकट सम्पर्क को नहीं सह सकता तो उसके अनुगामी, इस अनायास मिली परम्परा को छोड़कर जीवन खोजने जा सकेंगे, ऐसा विश्वास कठिन है।

और यह तो निश्चित ही है कि आज का सिद्धान्त यदि जीवन के स्पर्श से निरन्तर नवीनता न पाता रहे तो कल रूढ़ि मात्र रह जायगा। इसके अतिरिक्त हमारी विकृति के मूल में अर्थ के साथ वह जातीयता भी है जो जन्म से ही एक को पवित्र और पूजार्ह और दूसरे को अपवित्र तथा त्याज्य बना देती है। आज जीवन के निकट परिचय के साथ कवि में उस अखण्डता का भावन भी अपेक्षित है जो मनुष्य, मनुष्य को एक ही धरातल पर समानता दे सके।

यथार्थवाद के पास दलित वर्ग को छोड़कर जो एक और चिरन्तन विषय रह जाता है वह है नारी। पिछला युग इसे बादल,

तारे, सन्ध्या के रङ्ग आदि में छिपा आया था, अतः यथार्थ ने छाया-ग्राही बनकर उसे धूल में खींच ही नहीं लिया, वरन् वह, जीवन के सब स्तर दूर करके उसके कंकाल की नाप-जोख करना चाहता है। इस स्थिति का परिणाम समझने के लिए मानवी को, जीवन की पृष्ठभूमि पर देखना होगा।

नारी केवल मांसपिण्ड की संज्ञा नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर, और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है उसी का पर्याय नारी है। किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपों और शक्तियों की अवमानना नहीं की, परन्तु किसी भी मरणासन्न जाति ने, अपनी मृत्यु की व्यथा कम करने के लिए उसे मदिरा से अधिक महत्त्व नहीं दिया।

पिछले जागरण-युग ने अपने पूर्ववर्ती युग से जो जीव पाया था उसे तो मानवी के स्थान में, सौन्दर्य का ध्वस्त आविष्कार-विभाग कहना उचित होगा। खड़ीबोली के आदर्शवादी कवि ने मलिनता में मिली पुरानी मूर्ति के समान उसे स्वच्छ और परिष्कृत करके ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित तो कर दिया, परन्तु वह उसे गतिशीलता देने में असमर्थ रहा। छायायुग ने उस कठोर अचलता से शापमुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूर्त्त और अमूर्त्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति में सौन्दर्य को एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त हो जाना सहज हो

गया, पर वह व्यापकता जीवन की यथार्थ सीमारेखाओं को स्पष्ट न कर सकी।

आज के यथार्थवादी को उस सौन्दर्य के स्वप्न और शक्ति के आदर्श को सजीव साकारता देनी होगी, अतः उसका कार्य व्यञ्जनों के आविष्कारक से अधिक महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्मता के उपासक से अधिक कठिन है।

जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है वह आज इतनी संज्ञाहीन और पंगु नहीं कि पुरुष अकेले ही उसके भविष्य और गति के सम्बन्ध में निश्चय कर ले। हमारे राष्ट्रीय जागरण में उसका सहयोग महत्त्वपूर्ण और बलिदान असंख्य हैं। समाज में वह अपनी स्थिति के प्रति विशेष सजग और सतर्क हो चुकी है। साहित्य को कुछ ही वर्षों में उसकी सजीवता का जैसा परिचय मिल चुका है वह भी उपेक्षणीय नहीं। इसके अतिरिक्त इस संक्रांति-काल में सभी देशों की नारी अपने कठिन त्यागों से अर्जित गृह, संतान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुष की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नहीं।

ऐसे ही अवसर पर यथार्थवाद ने एक ओर नारी की वैज्ञानिक शव-परीक्षा आरम्भ की है और दूसरी ओर उसे उच्छृङ्खल विलास का साधन बनाया है।

वैज्ञानिक परीक्षा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नारी ऐसा यन्त्र मात्र नहीं जिसके सब कलपुर्ज़ों का प्रदर्शन ही, ज्ञान की पूर्णता और उनका संयोजन ही क्रियाशीलता हो सके। पुरुष व्यक्ति

मात्र है, परन्तु स्त्री उस संस्था से कम नहीं जिसके प्रभाव की अनेक दिशाएँ हैं और सृजन में रहस्यमयी विविधता रहती है। वास्तव में संसार का कोई भी महत्त्वपूर्ण सृजन बहुत स्पष्ट और निरावरण नहीं होता। धरती के अप्रत्यक्ष हृदय में अंकुर की सृष्टि होती है, अन्धकार की गहनता के भीतर से दिन का आविर्भाव होता है और अन्तर की रहस्यमयी प्रेरणा से जीवन को विकास मिलता है। नारी भी स्थूल से सूक्ष्म तक न जाने कितने साधनों से, जीवन और जाति के सर्वतोन्मुखी निर्माण में सहायक होती है।

निर्जीव शरीर-विज्ञान ही उसके जीवन की सृजनात्मक शक्तियों का परिचय नहीं दे सकता। वास्तव में उसके पूर्ण विकासशील सहयोग को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि ही नहीं हृदय का वह संस्कार भी अपेक्षित रहेगा जिसके बिना मनुष्य का कोई सामाजिक मूल्य नहीं ठहरता।

और आज की परिस्थियों में, अनियन्त्रित वासना का प्रदर्शन स्त्री के प्रति क्रूर व्यङ्ग ही नहीं जीवन के प्रति विश्वास-घात भी है।

नारी-जीवन की अधिकांश विकृतियों के मूल में पुरुष की यही प्रवृत्ति मिलती है, अतः आधुनिक नारी नये नामों और नूतन आवरणों में भी इसे पहचानने में भूल नहीं करेगी। उसके स्वभाव में, परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढाल लेने का संस्कार भी शेष है और उसके जीवन में, दिनोंदिन बढ़ता हुआ विद्रोह भी प्रवाहशील है। यदि वह पुरुष की इस प्रवृत्ति को स्वीकृति देती है तो जीवन को बहुत पीछे लौटा

ले जाकर एक श्मशान में छोड़ आती है और यदि उसे अस्वीकार करती है तो समाज को बहुत पीछे छोड़ शून्य में आगे बढ़ जाती है। स्त्री के जीवन के तार-तार को जिसने तोड़कर उलझा डाला है, उसके अणु-अणु को जिसने निर्जीव बना दिया है और उसके सोने के संसार को जो धूल के मोल लेती रही है पुरुष की वही लालसा, आज की नारी के लिए, विश्वस्त मार्गदर्शिका न बन सकेगी।

छायावाद की छायामयी को आघात पहुँचाने के लिए यह प्रयोग ऐसा ही है जैसा आकाश के रङ्गों को काटने के लिए दो धारवाली तलवार चलाना जो एक ओर चलानेवाले के हाथ थकाती रहती है और दूसरी ओर समीपवर्तियों को चोट पहुँचाती है। वे रङ्ग तो मनुष्य की अपनी दृष्टि में घुले-मिले हैं। छाया-युग की नारी, पुरुष के सौन्दर्य-बोध, स्वप्न, आदर्श आदि का प्रतीक है। आज पुरुष यदि उस प्रतीक को जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता नहीं रखता तो क्षम्य है। परन्तु अपनी ही अर्चित मूर्त्ति को पैरों तले कुचलने के लिए यदि वह जीवित नारी को अपनी कुत्सा में समाधि देना चाहे, मधु-सौरभ पर पली हुई अपनी ही सृष्टि को आत्मसात् करने की इच्छा से, नारी के अस्तित्व के लिए क्रव्याद बन जावे तो उसका अपराध अक्षम्य हो उठेगा।

भारतीय पुरुष जीवन में नारी का जितना ऋणी है उतना कृतज्ञ नहीं हो सका। अन्य क्षेत्रों के समान साहित्य में भी उसकी स्वभावगत संकीर्णता का परिचय मिलता रहा है। आज का यथार्थ यदि इस सनातन

अकृतज्ञता का ब्योरेवार इतिहास बनकर तथा पुराने अपकारों की नवीन आवृत्तियाँ रचकर ही उऋण होना चाहता है तो यह प्रवृत्ति वर्त्तमान स्थिति में आत्मघातक सिद्ध होगी।

किशोरता जीवन का वह वर्षाकाल है जो हर गढ़े को भरकर धरती को तरल समता देना चाहता है, हर बीज को उगाकर धूल को हरा-भरा कर देने के लिए आतुर हो उठता है। पर वह जड़ों को गहराई देने के लिए नहीं रुकता, तट बनाने को नहीं ठहरता। इसके विपरीत प्रौढ़ता उस शरद जैसी रहेगी जो जल को तट देती है पर सुखाकर रेत भी कर सकती है, अच्छे अंकुरों को स्थायित्व देती है पर विषैली जड़ों को भी गहराई दे सकती है। साधारणतः किशोर अवस्था में स्नेह के स्वप्न कोमल और जीवन के आदर्श सुन्दर ही रहते हैं—न उनमें वासना की उत्कट गन्ध स्वाभाविक है न विकृत मनोवृत्तियों की पङ्किलता।

इस प्रकार नारी के सम्बन्ध में उच्छृङ्खल वासना, यथार्थवाद की किशोरता नहीं वरन् प्रौढ़ और विकृति मनोवृत्तियों का अनियन्त्रित उन्माद प्रकट करती है।

किशोर कवि कोई स्वप्न न देखे ऐसा नियम आलोचक नहीं बना पाया, पर वह कुरूप स्वप्न ही देखे ऐसा नियन्त्रण उसके अधिकार में है। फलतः कवि दण्ड की परिधि के बाहर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को एक सौन्दर्य-लोक में घुमाता रहता है और दण्ड की परिधि में, उन्हें संसार भर की कुत्सित वेषभूषा में उपस्थित कर देता है। एक कङ्काल की रेखाएँ खींचकर वह तीन सौन्दर्य दृश्य आँक लेता है, एक मजदूरनी की

शव-परीक्षा करके वह पाँच रहस्यमय स्नेहगीत गा लेता है और इस प्रकार अपने गृद्धदृष्टि आलोचक में दृष्टिभ्रम उत्पन्न करता रहता है।

प्रौढ़ मस्तिष्क की कथा दूसरी है क्योंकि इस अवस्था में बद्धमूल संस्कार ही विशेष महत्त्व रखते हैं। यदि उसके स्वभावगत संस्कार स्वस्थ और अविकृत हैं तो वह जीवन की कुत्सा के भीतर मिले सत्य को भी स्पर्शमात्र से सुन्दर कर लेता है। और यदि अपने युग की विकृतियाँ और अस्वस्थ प्यास ही उसकी पूँजी है तो वह उसे बढ़ाने के लिए विकृत से विकृततर होता जायगा।

इस प्रकार आज का यथार्थोन्मुख काव्य एक वृत्त के भीतर गतिशील है। इस सङ्कीर्ण वृत्त में धर्म का वह विद्वेष भी उपस्थित है जो मानव को मील का पत्थर और तिलक-छाप को चरम लक्ष्य मानता है और राजनीति का वह विरोध भी मिलता है जो अपनी रेखा के भीतर कङ्कड़-पत्थर को देवता कहता है और उससे बाहर खड़े मनुष्य को कीट-पतङ्ग की संज्ञा देता है। आज की सभी विकृतिओं और सङ्कीर्णताओं का एकमात्र उपाय जीवन में घुल-मिल जाना है। अपनी त्रुटि के सम्बन्ध में जो यह कहता है कि आज अवकाश नहीं वह मानो उस त्रुटि को फैलाने के लिए जीवनभर का अवकाश दे देता है। नष्ट करने योग्य वस्तुओं में जीवन की विरूप छाया ही है जो उस दिन स्वयं बदल जायगी जिस दिन यथार्थदर्शी सत्य का द्रष्टा होकर जीवन को सौन्दर्य से अभिषिक्त कर देगा। अपने युग का शिव बनने का इच्छुक कवि हलाहल पान के लिए संसार भर से निमन्त्रण की याचना करके अपने ही शिवत्व को संदिग्ध बना रहा है

मनुष्य की परुष वृत्तियों को ही नहीं कोमल वृत्तियों को भी शक्ति बनाकर कवि अमर सृजन करता रहा है। विशेषतः हमारी चिरस्मरणीय विजयों के मूल में, असम्भव सफलताओं के अन्तराल में स्नेह, करुणा जैसी कोमल भावनायें ही छिपी मिलती हैं। पर आज का यथार्थवादी कोमल भावनाओं को शक्ति न बना सकने के कारण ही उन्हें भी मन की दुर्बलता मान कर स्वयं दुर्बल बन जाता है। यह स्वयं ओढ़ा हुआ ऐसा अभिशाप है जिसके लिए किसी से सहानुभूति पा सकना भी कठिन है।

विकासशील गति के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह स्वास्थ्य का लक्षण है व्याधि का नहीं। साधारणतः सन्निपातग्रस्त में स्वस्थ से अधिक अस्थिरता होती है। डाल में लगे सजीव पत्ते से अधिक खरखराहट भरी गति उस सूखे पत्ते में रहती है जो आँधी पर दिशाहीन सरसर उड़ता घूमता है। टूटा हुआ तारा स्थायी तारे से अधिक सीधी तीखी रेखा पर दौड़ता है।

शरीर से सबल, बुद्धि से निश्चित और हृदय से विश्वासी पथिक वही है जो कहीं पर्वत के समान अडिग रहकर बवंडर को आगे जाने देता है और कहीं प्रवाह के समान चञ्चल होकर शिलाओं को पीछे छोड़ आता है।

इस दिशा में आलोचक का कर्त्तव्य जितना महत्त्वपूर्ण था उतने उत्तरदायित्व के साथ उसका निर्वाह न हो सका।

छायावाद को तो शैशव में कोई सहृदय आलोचक ही नहीं मिल सका। द्विवेदी-युग के संस्कार लेकर जो आलोचना चल रही थी उसने

नवीन कवियों को विक्षिप्त प्रमाणित करने में सारी शक्ति लगा दी और नये कवियों ने अपने कठिनहृदय आलोचकों को प्राचीनता का भग्नावशेष कहकर सन्तोष कर लिया। जब यह कवि अपने विकास के मध्याह्न में पहुँच गये तब उन्हें भक्त मिलना ही स्वाभाविक हो गया।

छायावाद एक प्रकार से अज्ञातकुलशील बालक रहा, जिसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद, बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है जिसके आविर्भाव के साथ ही, आलोचक जन्मकुण्डली बना-बनाकर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा में व्यस्त हो गये। स्वयं उसके जीवन और विकास के लिए कैसे वायुमण्डल, कैसी धूप-छाया और कितने नीर-क्षीर की आवश्यकता होगी इसकी उन्हें चिंता नहीं।

आज के कवि और आलोचक की परिस्थितियों में विशेष अन्तर है। कवियों में एक-दो अपवाद छोड़कर शेष ऐसी अनिश्चित स्थिति में रहे और रहते आ रहे हैं जिसमें न लिखने का अनिवार्य परिणाम, उपवास-चिकित्सा है। इसके विपरीत आलोचकों में दो-एक अपवाद छोड़कर शेष की स्थिति इतनी निश्चित है कि लिखना, अध्यापन और स्वाध्याय का आवश्यक फल हो जाता है। वे अपने से उच्च वर्ग की गृह-परिग्रह-जीवन-सम्बन्धी सुविधाएँ देखकर खिन्न होते हैं अवश्य, पर यह खिन्नता

जीवन की विशेष गहराई से सम्बन्ध नहीं रखती, अतः उनका कार्य प्रस्ताव के अनुमोदक से अधिक महत्त्व नहीं रखता।

एक दीर्घकाल से हमारा बुद्धिजीवी वर्ग जीवन के स्वाभाविक और सजीव स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय, निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है। आलोचक भी इसी वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण मानसिक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लाये बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नहीं आती, क्योंकि ऐसी पुकार स्वयं उसी के जीवन को विरोधाभास बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह, एक अथक विवादैषणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नहीं दे सका जिस पर साहित्य और काव्य का खरा खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।

समाज के विभिन्न स्तरों से उसका सम्पर्क इतना कम और पीडित वर्ग से उसका परिचय इतना बौद्धिक है कि व्यक्तिगत सिद्धान्त-प्रियता, समष्टिगत जीवन की उपेक्षा बन जाती है। पीड़ितवर्ग की पूँजी से चाहे जितना व्यक्तिगत व्यापार चले उसका हृदय नहीं कसकता, गति के बहाने चाहे जीवन ही कुचल दिया जावे पर उसका आसन नहीं डोलता, यथार्थ के नाम पर नारी का क्रूर चीरहरण होता रहे, पर वह धृतराष्ट्र की भूमिका नहीं छोड़ सकता।

उसका कर्तव्य वैसा ही निश्चित और एकरस है जैसा शस्त्र रखने का लाइसेन्स देनेवाले का होता है। लेनेवाला यदि निश्चित नियमों की

परिधि में आ जाता है तो वह शस्त्र पाने का अधिकारी है, चाहे वह उसे चींटी पर चलावे चाहे तारे पर और चाहे मारने के लिए कुछ न रहने पर आत्मघात करे। देनेवाले पर इसका लेशमात्र भी उत्तरदायित्व नहीं। ज्यों-ज्यों आलोचक में महाजन का तक़ाज़े भरा आत्मविश्वास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों कवि में ऋणी का बहाने भरा दैन्य गहरा होता जा रहा है। नया कवि अपने अनेक वाणी में बोलनेवाले नये आलोचक से उतना ही आतङ्कित है जितना दरबारी कवि, राजा के षड्यन्त्रकारी मन्त्री से हो सकता था। ऐसी स्थिति में साहित्य का स्वस्थ विकास कुछ सन्दिग्ध हो उठता है[१]।

आज का प्रगतिवाद मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं वह काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद चाहता है, अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्त्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। गान्धीवाद की उदात्त प्रेरणा, छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य, रहस्यवाद का भाव-माधुर्य आदि देखने का उसे अवकाश नहीं, क्योंकि वह राजनीतिक दलों के समान साहित्यकारों का विभाजन कर अपने पक्ष में बहुमत और दूसरे पक्ष में अल्पमत चाहता है।

इस प्रवृत्ति का परिणाम स्पष्ट ही है। प्रथम कोई महान् साहित्यकार ऐसे संकीर्ण घेरे में ठहर नहीं सकता और दूसरे बहुमत की चिन्ता में साहित्य के नाम पर ऐसी भरती स्वाभाविक हो जाती है जैसी आज बिल्ला लगाने में निपुण पर कर्तव्य में अनिपुण सिविक गार्ड्स की हो रही है।

गान्धीवाद के राजनीतिक पक्ष ने भी श्रेष्ठ साहित्यकारों को बाँधने में असमर्थ होकर अपने प्रचार के लिए एक विशेष साहित्यिक वर्ग सङ्गठित कर लिया था जो प्रथम श्रेणी का साहित्य देने में समर्थ न हो सका। पर गान्धीवाद बाह्य दृष्टि से राष्ट्र का संयुक्त मोरचा है और आन्तरिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण है। इसी से किसी भी विचार का कलाकार एक न एक स्थल पर उसका समर्थक है और किसी न किसी अंश तक उससे प्रभावित है।

इसके विपरीत साम्यवाद अब तक एक राजनीतिक परिधि में सीमित है और एक विशेष विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। दूसरी विचार-धाराओं से विरोध, भारतीय जीवन से विच्छिन्नता और विदेशीय साहित्य के विशेषज्ञ पर अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में विशेष अज्ञ व्यक्तियों की उप-स्थिति ने इस पक्ष को एक विशेष भूमिका दे डाली है। उसकी स्थिति ऐसी ही है जैसी पैराशूट से इस धरती पर उतर आनेवाले रूसी की हो सकती थी जिसकी मित्रता में विश्वास करके भी हम जिसके इस देश-सम्बन्धी ज्ञान में सन्देह करेंगे, जिसे अपनी संस्कृति और जीवन का मूल्य समझाने का प्रयत्न करेंगे और न समझने पर खीझ उठेंगे।

प्रगतिवादी साहित्य इस विचारधारा का साहित्यिक पक्ष है, अतः उसके सम्बन्ध में भी एक सन्दिग्ध मनोवृत्ति स्वाभाविक हो गई! सङ्गठन की दृष्टि से इसके समर्थकों ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित अन्य विचार-धाराओं को कोई महत्त्व देना स्वीकार नहीं किया, अतः उनके निर्माण का लक्ष्य वैयक्तिक इच्छा के रूप में उपस्थित हो सका। वैय-

क्तिक इच्छा व्यक्तिगत शक्ति और परिस्थिति से सीमित है, पर सामूहिक निर्माण का लक्ष्य शक्तियों के एकीकरण और परिस्थितियों के साधारणीकरण द्वारा व्यापकता चाहता है। समष्टिगत कल्याण-सम्बन्धी मतभेद जीवन की गहराई में किस प्रकार एकता पा लेते हैं इसका उदाहरण किसी भी विकासशील जाति में मिल सकेगा, जहाँ सामूहिक सङ्कट-काल में परस्पर विरोधी राजनीतिक पक्ष तक निर्विवाद एक हो जाते हैं।

साहित्य में इस नवीन धारा ने अपना उत्कृष्ट निर्माण सामने रखने से पहले ही उत्कृष्ट साहित्य-सृजन कर चुकनेवाली विचार-धाराओं की अनुपयोगिता प्रमाणित करने में सारी शक्ति लगा दी, फलतः साहित्यिक वातावरण विवाद से छिन्न-भिन्न होने लगा।

उत्कृष्ट सृजन ही किसी विचार-धारा की उत्कृष्टता का प्रमाण है पर जब वह ऐसा प्रमाण न देकर अपने उत्कृष्ट सृजन के लिए दूसरों को नष्ट करने की शर्त सामने रखती है तब स्वयं अपनी हार मान लेती है। छाया-वाद की चिता चुन जाने पर ही नये काव्य को सुन्दर शरीर प्राप्त हो सकेगा, सजीव गान्धीवाद की शव-परीक्षा हो जाने पर ही नवीन साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा होना सम्भव है, ऐसी धारणाएँ शक्ति से अधिक दुर्बलता की परि-चायक तो हैं ही, साथ ही वे एक अस्वस्थ मानसिक स्थिति का परिचय देती हैं।

विवाद जीवन का चिह्न भी है और निर्जीवता का भी। लहरें बाहर से विविध पर भीतर से एक रहकर जल की गतिशीलता प्रकट करती हैं, पर सूखते हुए पङ्क की कठिन पड़नेवाली दरारें भीतर सूखती हुई तरल एकता

की घोषणा हैं। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देख चुके हैं। हम राजनीतिक और सामाजिक सङ्गठन करने चले और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रश्न उठाया और विवादों ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान में तीन भाषाओं की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापों से गुरु और दुःखद हैं, क्योंकि उनके मूल में जीवन की ऊपरी सतह की विविधता नहीं है वरन् वे उसकी अन्तर्निहित एकता का खण्डों में बिखरकर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते हैं। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह स्थूल एकता रखता है जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतन्त्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वयं मिट जाना चाहेगा पर उन्हें बना-बनाकर स्वयं बनना उसे स्वीकार न होगा।

विकृतियों से सम्बन्ध रखनेवाले उत्तेजक यथार्थ की हम उपेक्षा कर सकते हैं, क्योंकि जीवन के स्वस्थ होते ही यह प्रवृत्ति समाजविरोधनी बन जायगी। कोई भी सशक्त विकासशील जाति अपने नागरिक और भावी नागरिक को ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति में जीने का प्रोत्साहन देकर कोई नूतन निर्माण नहीं कर सकती। पर साम्यवाद से प्रभावित यथार्थ

के सामने अनेक प्रश्न हैं। वह हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति कैसा दृष्टिकोण रक्खेगा, समाज के मूलाधार स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को वह किस रूप में उपस्थित करेगा, जनसाधारण के जीवन तक पहुँचने के लिये वह कौन का माध्यम स्वीकार करेगा आदि जिज्ञासाएँ समाधान चाहती हैं।

पहले प्रश्न का उत्तर अब तक स्पष्ट नहीं हो सका, अतः पाकिस्तान के समान वह भय की कल्पना से बँध गया है। हमारे पास दर्शन, काव्य और कलाओं का बहुत समृद्ध कोष है जो किसी मूल्य पर भी छोड़ा नहीं जा सकता। छायावादी केवल पलायनवादी हैं, सूर-तुलसी सामन्त-युग के प्रतीक हैं, कबीर जैसे रहस्यवादी विक्षिप्त हैं, कालिदास जैसे कवि राजदर्बार के भाट मात्र हैं, वेदकालीन ऋषि प्रकृतिपूजक के अतिरिक्त और कुछ नहीं, आदि तर्क नये युग के अस्त्र-शस्त्र बन गये हैं। अवश्य ही आज का सच्चा प्रगतिवादी यह नहीं कहेगा, पर जब तक वह अपने ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध समर्थकों को इस प्रकार कहने देता है और अपना दृष्टि-बिन्दु स्पष्ट रूप से नहीं उपस्थित करता तब तक इसका उत्तरदायित्व उसी पर रहेगा। इन सब हीन भावनाओं के पीछे हमारी दीर्घकालीन परा-धीनता, शिक्षा की अपूर्णता, जीवन की समष्टिगत विकृति आदि की पटभूमिका है, पर यह अस्वस्थ मानसिक स्थिति यदि साहित्य में भी परि-ष्कार न पा सके तो हम विकास-पथ पर पैर नहीं रख सकते। हमारा मूल्य घटाकर दिखाने में जिन विदेशियों का लाभ है जब वे भी ऐसा करने में असमर्थ रहे तब उनके साहित्य संस्कृति से परिचित और अपने से

अपरिचित व्यक्ति केवल जन्म से भारतीय होने के नाते ऐसा प्रयत्न करके अपना ही मूल्य खो बैठते हैं।

विविध युगों में कला और काव्य का जो उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है उससे हमारा विरोध नहीं हो सकता और न होना चाहिए। विरोध हमारा उस व्यवस्था से रहेगा जिसने इन मूल्यों को कुछ व्यक्तियों तक सीमित रखा। नवीन व्यवस्था में हम कुरूप को सुन्दर नहीं कहेंगे, प्रत्युत सौन्दर्य को सामान्यता देकर सब तक पहुँचाएँगे अतः हमारा कार्य-भार दुगना हो जाता है। प्रत्येक युग के सौन्दर्य का मूल्याङ्कन और आज की परिस्थितियों में उसकी समुचित प्रतिष्ठा करना और उसे नवीन व्यवस्था की प्रेरणा बनाकर नई दिशा देना सहज नहीं।

सनातन, चिरन्तन, शाश्वत जैसे शब्दों से नये युग को खीझ है, पर उन्हें ठीक समझे बिना जीवन की मूल प्रेरणा में विश्वास कठिन होगा। सनातन से अस्तित्वमात्र का बोध होता है, चिरन्तन उसके बहुत काल से चले आने को सूचित करता है और शाश्वत में हमें जीवन की मूलचेतना की क्रमबद्धता का संकेत मिलता है।

एक व्यक्तित्व की अवधि है पर उस अवधि को मनुष्य किसी महान् आदर्श के लिए असमय ही खो सकता है, दूसरों के सुख की खोज में अनायास गँवा सकता है। इस खोने का महत्त्व तब प्रकट होता है जब हम जानते हैं कि व्यक्ति का अस्तित्व न रखने पर भी समष्टि का अस्तित्व है, यह अस्तित्व चिरकाल से विकास पाता आ रहा है और इस अस्तित्व की अन्तश्चेतना आगे भी रहेगी। आज का मनुष्य अपने यथार्थ को,

आगामी मनुष्य के कल्पित सुखों को निश्चित करने के लिए छोड़ सकता है क्योंकि उसे विश्वास है कि जिसके लिए कल्याण खोजने में वह मिटा जा रहा है वह मनुष्य कल भी रहेगा, परसों भी रहेगा और भविष्य में भी रहेगा। अँगरेज़ी के The King is dead, long live the King की तरह अपनी इकाई में मनुष्य मरता है पर समष्टि की इकाई में वह अमर है।

कला चिरन्तन है, सौन्दर्य सनातन है, सत्य शाश्वत है आदि में कोई रूढ़िगत अन्धविश्वास न होकर मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों की निरन्तरता का संकेत है क्योंकि किसी भी युग में मनुष्य अपने जीवन और उसे घेरनेवाली भूतप्रकृति को व्यवस्थित करता रहा है, इनके सामञ्जस्य पर प्रसन्न होता रहा है और जीवन के विकास के लिए उसके निरपेक्ष मूलतत्त्वों की खोज में लगा रहा है।

कला और सौन्दर्य, जीवन का परिष्करण और उससे उत्पन्न सामञ्जस्य के पर्याय हैं। इन दोनों की बाह्य रूपरेखा मनुष्य के विकास की सापेक्ष और परिस्थितियों से सीमित रहेगी पर जीवन की अन्तश्चेतना में इन्हें निरपेक्ष व्यापकता के साथ ही स्थिति मिलती है। मनुष्य अपने ज्ञान से अर्जित विकास के द्वारा कला को विविधता और सामञ्जस्य को परिष्कार दे सकता है, पर इनकी ओर आकर्षण जीवन के समान रहस्यमय और पुराना है। अनेक बार क़लम करके लगाया हुआ और विकास की दृष्टि से पूर्ण विकसित गुलाब ही सुन्दर नहीं, शिला के नीचे छिपकर खिला पुष्पशंखी भी सुन्दर है। वास्तु-कला के चरम विकास का निदर्शन

ताज ही सुन्दर नहीं, आदिम युग के मनुष्य की गहन कन्दरा में भी गम्भीर सौन्दर्य मिलेगा। देशविशेष और कालविशेष की कला और सौन्दर्य में बाह्य विभिन्नता रहेगी, पर उन्हें जन्म देनेवाली प्रवृत्ति मनुष्य-जाति के साथ उत्पन्न हुई है और उसकी समाप्ति के साथ समाप्त होगी। इस प्रवृत्ति को सनातन की संज्ञा देकर हम उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और चिरन्तन कहकर उसका, जीवन की चिरसङ्गिनी होने का अधिकार मानते हैं।

जीवन को अव्यक्त भाव से विकास देनेवाले तत्त्वों को खोजने की प्रवृत्ति भी कभी नहीं मिटी और यह मूलतत्त्व भिन्न-भिन्न नामों में भी एकता बनाये रहे जैसे अनेक सम्बन्धों में बँधा हुआ सामाजिक व्यक्ति एक ही रहता है। जीवन की समन्वयात्मक व्यवस्था और साहित्य का सामञ्जस्य-मूलक सौन्दर्य बाहर से जीवन के दो भिन्न छोर हैं, पर उन दोनों का आधार-भूत सत्य, जीवन की वही अन्तश्चेतना है जो उसे निरन्तर विकास के लिए बाध्य करती है। मनुष्य का जीवन चाहे कल्याण के राजमार्ग में चला, चाहे दुःख के वन में भटका, पर यह अन्तश्चेतना आगे बढ़ने की प्रेरणा में स्पन्दित होती रही, अतः उसे शाश्वत कहकर हम मनुष्य की भूलों को शाश्वत नहीं कहते।

काव्य और कला का मूलाधार यही अन्तश्चेतना है। इसी से वे सब युगों में समान रूप से सम्मान पाते रहते हैं।

साहित्य और कला की सार्वभौमिकता प्रमाणित करने के लिए हमें रूस से अधिक उपयुक्त देश नहीं मिल सकता, क्योंकि आज का आलोचक उस पर साम्राज्यवादी देशों की विलासप्रियता का आरोप नहीं करेगा,

अध्यात्मप्रधान जाति के अन्धविश्वास का लांछन नहीं लगायेगा और तानाशाही परवशता का आक्षेप असम्भव मानेगा। पर वहाँ आज युद्ध के धुएँ से भरे आकाश के नीचे, अस्त्र-शस्त्रों की झनकार से मुखरित दिशाओं के बीच में, साम्राज्यवादी देश के शेक्सपियर के नाटक खेले जाते हैं, अध्यात्मवादी भारत के रामायण महाभारत जैसे ग्रन्थों के अनुवाद होते हैं, रहस्यद्रष्टा कवीन्द्र की रचनाएँ पढ़ी जाती हैं, नाज़ियों के वैगनर को कलाकारों में स्थान दिया जाता है और गोर्की के समान ही टॉलस्टॉय को महत्त्व दिया जाता है। वहाँ का श्रमजीवी अन्य स्वाधीन देशों के, भिन्न विचार-धारावाले साहित्य को ही महत्त्व नहीं देता, भारत जैसे पराधीन देश की उन उपेक्षित निधियों का भी ऊँचा मूल्य आँकता है जो नवीनता के उपासकों के सामने घिसी-पिटी संस्कृति और पुराणपन्थी साहित्य के रूप में उपस्थित होती हैं। इस विरोधाभास में एक ओर एक जीवित जाति और विकासशील राष्ट्र की निष्पक्ष उदारता का स्वर है और दूसरी ओर एक गतिरुद्ध पराधीन जाति की दास-प्रवृत्ति बोलती है।

दुर्बलता शक्ति का आहार है, पर हमारी दुर्बलता जब शक्ति को खा-खाकर जीने लगी तब दुर्बलता का चिर-जीवन निश्चित है और शक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी। इस मनोवृत्ति को आश्रय देकर नवीनता का उपासक एक नये अभिशाप की सृष्टि करेगा।

जीवन उस वृक्ष के समान है जो कहीं जड़ में अव्यक्त है, कहीं पत्तों में लहलहाता है, कहीं फूलों में सुन्दर है, कहीं फल में उपयोगी है और कहीं बीज में सृजनशील है। कला और साहित्य में जीवन के रहस्य,

सजीवता, सौन्दर्य, उपयोग और सृजनशक्ति का एकीकरण रहता है, अतः उसका स्रष्टा साम्य का अन्वेषक है, भेद-विरोध का आविष्कारक नहीं। एक ही भाव या विचारधारा का प्राधान्य साहित्य और कला का लक्ष्य नहीं, पर भाव और विचार की असंख्य विविधतायें चरम बिन्दु पर पहुँचकर वैसे ही एक हो जाती हैं जैसे मनुष्य के स्वप्न, कल्पना, इच्छा, तर्क, विश्वास आदि की अनेकता उसके विकास में एकता पा लेती है।

दार्शनिकों, विचारकों और साधकों के समान संसार भर के कलाकारों की भी एक ही जाति और एक ही वर्ग है। जीवन के निम्नतम स्तर से आनेवाला कलाकार अपनी परिस्थिति से ऊपर उठकर और उच्चतम से आनेवाला अपनी परिस्थिति से नीचे उतरकर जीवन के उस धरातल पर ठहरता है जिसमें ऊँचाई-नीचाई की विषमता न होकर सामञ्जस्यमयी विविधता मात्र सम्भव है। कला के पारस का स्पर्श पा लेनेवाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं। इसी से मानसकार के ब्राह्मणत्व, पाण्डित्य और आदर्शवाद को जिस धरातल पर स्थिति मिली है, कबीर का अशिक्षित जुलाहापन और अटपटे रहस्यभाव भी उसी पर प्रतिष्ठित किये गये हैं।

नवीन विचारधारा को अपना पथ परिष्कृत करने के लिए साहित्य और कला की अन्तर्वर्तिनी एकता को तत्वतः समझने की आवश्यकता रहेगी।

स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन की विषमताओं से सम्बन्ध रखनेवाले यथार्थ की समस्या भी अब तक सुलझी नहीं। हाँ, उसने श्लीलता अश्लीलता-सम्बन्धी अनेक विवादों को जन्म अवश्य दे दिया है। व्यापक अर्थ में यह भाव जीवन के प्रति सम्मान और असम्मान के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, संकल्प, संकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होती वे सब अश्लील की परिधि में रक्खे जा सकेंगे। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है वह अश्लील नहीं कहा जाता। पर यदि राह में कोई उसी रोगी की पगड़ी उतारकर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने में लज्जा नहीं आई तब यहाँ सिर उघड़ जाने में क्या हानि है, तो इस कार्य को श्लील नहीं कहा जा सकेगा। चिकित्सक रोगों का ज्ञान रखता है और रोगी को स्वस्थ करने की इच्छा से रोग-निदान के लिए प्रेरित होता है, अतः उसके व्यवहार में जीवन के महत्त्व की स्वीकृति है, पर दूसरा अपने मनोविनोद के लिए अन्य व्यक्ति को उपहासास्पद बनाना चाहता है, फलतः उसके कार्य में जीवन के महत्त्व की अस्वीकृति है।

जीवन के महत्त्व की स्वीकृति और अस्वीकृति के भावों के बीच में विभाजक रेखा सूक्ष्म है। इसी से मूलभाव को ध्यान में रखते हुए एक व्यवहार परम्परा बना ली गई। जैसे-जैसे मनोभावों में सूक्ष्म परिष्कार आता जाता है वैसे-वैसे मानवीय सम्बन्धों में संस्कार होता चलता है, जैसे-जैसे समाज का विस्तार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे व्यवहार-क्रम विविधता में फैलता जाता है। पुरुष और स्त्री की पाशविक सहज प्रवृत्ति वैयक्तिक प्रेम में परिष्कृत

होकर सांस्कृतिक विकास का आधार बन सकी और संस्कृति से व्यवहार-जगत् शासित हो सका। युग-विशेष के नैतिक नियम, तत्कालीन समाज, उसके पीछे छिपे मानवीय सम्बन्ध और उस सम्बन्ध के मूलगत मानव-प्रकृति के परिष्कार का परिचय देंगे। पर सारी विविधता के भीतर जीवन के महत्त्व की स्वीकृति या अस्वीकृति किसी न किसी मात्रा में अवश्य मिलेगी; क्योंकि जीवन जिस परिष्कार-क्रम तक पहुँचा होगा तत्सम्बन्धी महत्त्व की भावना भी उसी सीमा तक विकास कर चुकी होगी और अवज्ञा उसी सीमा तक दण्डनीय मानी जाती होगी।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में अश्लीलता का जो प्रश्न उठाया जाता है वह रहस्यवाद और आदर्शवाद के सम्बन्ध में नहीं उठता; क्योंकि उनमें पहला प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होने के कारण जीवन के महत्त्व को घटा नहीं सकता और दूसरा जीवन की पूर्णता की कल्पना के कारण उसे निम्नस्तर पर रखने को स्वतन्त्र नहीं। रहस्यवादी स्वयं नारी के आत्मसमर्पण का सहारा लेकर परमतत्त्व में अपने आपको खो देना चाहता है, अतः उसमें पुरुष और नारी का रूप चरम परिष्कार पा लेता है। आदर्शवादी जीवन को पूर्णतम रूप में उपस्थित करने का लक्ष्य रखता है, अतः उसमें मानव, मानवी तथा मानवीय सम्बन्ध परम उज्ज्वल हो उठते हैं।

यथार्थवाद जीवन का इतिवृत्त होने के कारण प्रकृति और विकृति दोनों के चित्र देने के लिए स्वतन्त्र है, पर जीवन में विकृति अधिक प्रसारगामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार-बार व्यक्त होती

रहती है। सच्चा यथार्थवादी प्रकृति के चित्रण में, जीवन को स्वस्थ विकास देनेवाली शक्तियों को प्रगति देता है और विकृति की रेखाओं में उसका लक्ष्य, विरोध द्वारा प्रकृति की पुनर्स्थापना रहता है।

गोताख़ोर तट पर कीचड़ और घोंघों का ढेर लगाने के लिए समुद्र की अतल गहराई में नहीं धँसता, पृथ्वी पर मिट्टी के नये पहाड़ बनाने के लिए खानक खान नहीं खोदता। एक उस मोती को निकाल लाता है जिससे संसार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओं से भरे समुद्र को रत्नाकर का नाम देता है; दूसरा पृथ्वी के अन्धकारमय गर्त से वह हीरा खोज लाता है जिसका अस्तित्व अब तक छिपा था और जिसे देकर धरती वसुन्धरा की संज्ञा पाती है।

विकृत यथार्थ का अन्वेषक प्रकृति के किसी अमूल्य सत्य की प्राप्ति के लिए विकृति को स्वीकृति देता है—केवल उसकी विषमता और कुत्सा का एकत्रीकरण उसका लक्ष्य नहीं रहता। भारत के सम्बन्ध में विविध गर्हित विकृतियों का संग्रह करनेवाली मिस मेयो कलाकारों की पंक्ति में न खड़ी हो सकेगी, लन्दन के विविध और विकृत रहस्यों का पता लगानेवाला रेनाल्ड संसार के श्रेष्ठ साहित्यकारों में स्थान न पा सकेगा। विकृति दो प्रकार से चित्रित की जा सकती है—एक तो ऐसी तटस्थता के साथ जो लेखक के भाव के स्पर्श के बिना ही, हिप्नोटिज्म से अचेत व्यक्ति के समान स्वयं सब कुछ कह दे और दूसरे प्रकृति की व्यापक छाया के नीचे, जिससे वह अपनी सामञ्जस्य-विरोधिनी स्थिति प्रकट करके प्रकृति की ओर प्रेरित करे।

जब यथार्थवादी प्रकृति की सामञ्जस्यमयी छाया से बाहर अपनी रसमग्नता के साथ विकृति को चित्रित करता है तब उसकी लिप्सा ही व्यक्त होती है और यही लिप्सा पाठक के हृदय में प्रतिबिम्बित हो उठती है।

इस सम्बन्ध में यह जानना उचित है कि विकृत के ज्ञान और विकृति की अनुभूति में विशेष अन्तर रहता है, क्योंकि ज्ञान परोक्ष हो सकता है पर अनुभूति नहीं होती। हमें हत्या का ज्ञान हो तो वह ज्ञान हमारे मानसिक जगत् पर गहरी छाप नहीं छोड़ेगा, पर हत्या की अनुभूति होने पर हम हत्याकारी की मानसिक स्थिति में जीवित होंगे, अतः इसका संस्कार बहुत स्थायी रहेगा।

हत्या जीवन की एक अस्वाभाविक और विकृत स्थिति का परिणाम है। वास्तविक जीवन में जब हम उसे बिना किसी माध्यम के नग्न रूप में प्रत्यक्ष पाते हैं तब हमारे हृदय में उसके प्रति जुगुप्सा और परिस्थितियों के अनुसार हत्याकारी के प्रति घृणा, क्रोध या करुणा का भाव जाग उठता है। यही भाव तब जागेंगे जब यथार्थवादी कलाकार उसे तटस्थ रूप से उपस्थित करेगा। यदि वह इस विकृति को जीवन के प्रकृत सामञ्जस्य की छाया में अङ्कित करे तो इसकी पट-भूमिका में हमें जीवन के स्वस्थ रूप का सङ्केत भी मिलेगा। पर जब कलाकार एक अस्वस्थ रस-निमग्नता के साथ हत्या का चित्रण करता है तब हमारे मन में न स्वाभाविक घृणा जागती है, न जीवन की सहज संवेदनीयता से उत्पन्न होनेवाली करुणा। हम उस चित्रण में एक ऐसी अस्वस्थ उत्तेजना का अनुभव करते हैं जिसका संस्कार हमें ऐसे ही

चित्रों की खोज में भटकाता रहता है। अन्य विकृतियों के चित्रण के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

पुरुष और नारी के सम्बन्ध की विषमता से उत्पन्न यथार्थ इससे शतगुण उत्तेजनामूलक हो सकता है, क्योंकि हत्या सामान्य प्रवृत्ति न होकर वैयक्तिक विकृति है, पर वासना सहज प्रवृत्ति ही कही जायगी। यथार्थ का कलाकार यदि साधक नहीं तो तटस्थ निर्विकारता उसका अमोघ अस्त्र है। जिसके पास तटस्थता नहीं वह यथार्थ का चितेरा अपनी ही अस्वस्थ इच्छाओं की पूर्ति के लिए विकृत चित्रों की असंख्य आवृत्तियाँ करता रहेगा और उन चित्रों का दर्शक अपनी सहज प्रवृत्ति को अनायास अस्वाभाविक उत्तेजना में बदलते-बदलते उन्हीं विकृतियों का उपासक हो उठेगा। उत्तेजक यथार्थ का चितेरा और उन चित्रों का दर्शक दोनों उन विकृत चित्रों के अभाव में उसी अशक्ति का अनुभव करेंगे जो ज्वर उतर जाने पर रोगी और होश में आ जाने पर मद्यप में स्वाभाविक है।

इस यथार्थ के मूल में कहीं तो हमारे समाज की समष्टिगत विकृति है और कहीं यूरोप के पतनशील साहित्य में मिलनेवाले वे फ्रायडियन सिद्धान्त हैं जिनके सम्बन्ध में क्रान्तिद्रष्टा लेनिन का कथन है—

"It seems to me that these flourishing sexual theories which are mainly hypothetical and often quite arbitrary hypotheses, arise from the personal need to justify personal abnormality or hypertrophy in sexual life before bourgeois morality and to entreat its patience."

(मुझे तो जान पड़ता है कि स्त्री-पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाले यह प्रचलित सिद्धान्त विशेषतः कल्पित और प्रायः निरङ्कुश अनुमान मात्र हैं। वे व्यक्तिगत जीवन की वासना-जनित उच्छृङ्खलता और अस्वाभाविकता को, मध्यवर्गीय नैतिकता के निकट क्षम्य बनाने और उसकी सहिष्णुता अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता से उत्पन्न हुए हैं।)

इस दृष्टि से हमारी स्वभावगत विकृति से अधिक हानिकारक फ्रायडियन प्रवृत्ति है, क्योंकि वह व्यक्ति की विकृति को संरक्षण ही नहीं देती, वरन् उसे सामान्य बनाने के लिए एक कल्पित सिद्धान्तवाद भी देती है।

समाज में स्त्री-पुरुष का परस्पर आचरण चरित्र का प्रधान अङ्ग है और इस चरित्र के मूल में उनकी वह जातिगत चेतना रहती है जिसके स्वस्थ रहने पर ही चरित्र का स्वास्थ्य निर्भर है। यदि इस चेतना को, स्वस्थ और सन्तुलित विकास के उपयुक्त वातावरण न देकर चरित्र-सम्बन्धी विकृतियों से घेर दिया जाता है तो यह जातिगत चेतना विकृत और अस्वाभाविक होने लगती है और परिणामतः चारित्रिक विकृतियों का क्रम निरन्तरता पाता रहता है।

सभी युगों के पतनशील समाज में चरित्र-सम्बन्धी विकृतियाँ सीमातीत हो जाती हैं और उनके सुधार के नाम पर प्रचलित विज्ञापनों का परिणाम चक्रवृद्धि की तरह एक-एक विकृति को अनेक बनाता रहता है। इन विकृतियों को कला और साहित्य में विशेष रसमय बनानेवाले व्यक्ति या तो व्यक्तिगत विकृतियों से पीड़ित रहते हैं या दूसरों की दुर्बलता का दुरुपयोग करके अपना स्वार्थ-साधन चाहते हैं।

सोवियत शासन-व्यवस्था ने पुरुष और नारी की जातीय चेतना को स्वस्थ विकास देने के लिए ही ऐसे चारित्रिक अपराधों का विज्ञापन रोक दिया है। नियम का कारण हमें इन शब्दों में मिलता है—

'The secret trial of sexual cases is based on the psychological principle that publicity for such cases is liable to arouse a morbid concentration on such questions, in the public mind with anti-social effects on behaviour.'

(स्त्री-पुरुष के चरित्र-सम्बन्धी अभियोगों का निर्णय गुप्त रूप से होता है। इसका कारण यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार इस प्रकार का विज्ञापन, जनता के आचरण पर समाज विरोधी प्रभाव डालता हुआ उसके ध्यान को ऐसे प्रश्नों में अस्वाभाविक रूप से केन्द्रित कर देता है।)

जीवन के नूतन निर्माण के समय ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति चिन्ताजनक है इसे भारतीय शासक ही नहीं रूसी क्रान्ति का सूत्रधार और नवीन रूस का निर्माता लेनिन भी मानता है—

"Youth movement too is attacked with the disease of modernity in its attitude towards sex questions and in being exaggeratedly concerned with them. The present widespread hypertrophy in sexual matters does not give joy and force to life but it takes it away. In the age of revolution it is bad very bad...The revolution demands concentration, increase of forces from the masses, from individuals. Self-control, self-discipline is not slavery...

I am deeply concerned about the future of our youth. And if harmful tendencies are appearing in the world of revolution it is better to combat them early. Such questions are the part of women question."

(युवक-आन्दोलन भी स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी प्रश्नों के प्रति अपने दृष्टिकोण में और उन्हें अपने ध्यान का एकान्त केन्द्र बना लेने में आधुनिकता की व्याधि से पीड़ित है। असंयम से स्फीतकाय वासना का वर्तमान प्रसार जीवन को शक्ति और आनन्द नहीं देता, किन्तु छीन लेता है। क्रान्ति के युग में यह बुरा है, बहुत बुरा......क्रान्ति, शक्तियों की वृद्धि और उनका केन्द्रीकरण चाहती है—जन-समूह से भी, व्यक्ति से भी। आत्म-निग्रह और आत्मसंयम दासता नहीं है......मैं नई पीढ़ी के भविष्य के लिए विशेष चिन्तित हूँ। यह क्रान्ति का अङ्ग है और यदि क्रान्ति के संसार में हानिकारक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं तो आरम्भ ही में उनकी रोक-थाम होना अच्छा है। ऐसे प्रश्न नारी की समस्या के अङ्ग हैं।)

लेनिन की दृष्टि में नारी के सहयोग का व्यावहारिक उपयोग ही नहीं वरन् वह ("a continuation, extension and exaltation of motherliness from individual to social sphere") मातृ-भावना का, व्यक्ति की सीमा से सामाजिक क्षेत्र में निरन्तर प्रसार, विस्तार और उदात्तीकरण है।

सांस्कृतिक मूल्य और नारी के महत्त्व की दृष्टि से सभी जाग्रत और विकासशील देश एक ही पथ के यात्री हैं, अतः उनके काव्य, कला

आदि बाह्य विभिन्नता के साथ भी लक्ष्यतः एक हैं। पर यदि हमारा नूतनतम गतिवाद रूस को ही प्रमाण माने तो भी उसे अपने दृष्टि-बिन्दु में आमूल परिवर्तन करना होगा, क्योंकि आज की हीन भावना और वासना-व्यापार को न रूस के व्यवहार-जगत् में समर्थन मिलेगा न उसके काव्य-साहित्य की समष्टि में।

विकृत यथार्थवाद का विकास-विरोधी रूप तो प्रत्यक्ष ही है पर जागती हुई नारी के मनोविज्ञान पर इसका जो प्रभाव पड़ेगा और उसका विरोध जिस रूप में उपस्थित होगा, इसका अनुमान भी कठिन नहीं।

हमारी दीर्घकालीन पराधीनता में भी नारी ने अपने स्वभावगत गुण कम खोये हैं, क्योंकि संघर्ष में सामने रहने के कारण पुरुष के लिए जितना आत्महनन और विवश समझौता अनिवार्य हो जाता है उतना नारी के लिए स्वाभाविक नहीं। पर दुर्बल पराजित पुरुष को अपने स्वत्व-प्रदर्शन के लिए नारी के रूप में एक ऐसा क्षेत्र मिल गया जिस पर वह, विपक्षी से मिली पराजय की झुँझलाहट भी उतार सकता है और अपने स्वामित्व की साध भी पूरी कर सकता है। ऐसी स्थिति में भारतीय नारी के लिए पुरुष के निराश हृदय को विलास और निष्क्रिय जीवन को दम्भ दोनों का भार वहन करना स्वाभाविक हो गया, क्योंकि एक ने उसे कम से कम मूल्य पर खरीदा और दूसरे ने उसके लिए ऊँचा से ऊँचा आदर्श स्थापित किया।

एक ही व्यक्ति इन दो भिन्न छोरों को कैसे स्पर्श कर सकता था! पर परिस्थितियों से विवश नारी एक ओर पुरुष की क्रीड़ा का विषय बने रहने

के लिए अपने आपको भड़कीले रङ्गों में रँगकर अस्वाभाविक चञ्चलता में जीने लगी और दूसरी ओर पुरुष के निश्चित आदर्श तक पहुँचकर दिव्य बनने के लिए अपने अणु-अणु में स्फटिक की स्वच्छ निर्जीवता भरने लगी। पुरुष यदि नारी के चरित्र को महत्त्व देता तो उसे जीवन के कुत्सित व्यवसाय के लिए विवश न होना पड़ता और यदि वह उसे कोई मूल्य न देता तो उसे अलौकिक बनने के लिए अनिवार्य अग्नि-परीक्षाओं से मुक्ति मिल जाती। पर उसकी दोनों माँगें निश्चित और श्लेषहीन रहीं।

इसी से हमारे समाज में एक ओर जगमगाती हाट लगाकर बैठी हुई स्वच्छन्द नारी का अट्टहास कहता रहता है 'तुम जीवन का अन्तिम क्षण तक मिट्टी के मोल ले लो' और दूसरी ओर ऊँची दीवारों के अन्धकार में छिपी और साधना में घुलती हुई वन्दिनी के निःश्वास पूछते रहते हैं 'अब और कितने क्षण शेष हैं?'

हमारे काव्य, साहित्य और कलायें इन दोनों ही रूपों के चलचित्र हैं। एक ओर उच्छृङ्खल सौन्दर्य, दूसरी ओर निःस्पद साधना। आधुनिक यथार्थवादी ने भी नारी के जीवन का महत्त्व और उसकी व्यथा को देखने का प्रयत्न न करके उन्हीं प्रवृत्तियों को नये नाम दे दिये हैं, परिणामतः नारी के जीवन को उनसे कोई गति नहीं मिल सकी।

छाया-युग की छाया से आया हुआ यथार्थवादी सौन्दर्य का ऐसा संस्कार लेकर आया जो अपना व्यापक चित्राधार छोड़कर रीतियुग की सौन्दर्य दृष्टि से भिन्न नहीं रह सका।

गजगति से चलनेवाली 'धनि श्यामवरणि' संस्कृत की 'तन्वी श्यामा' की वंशजाता भी है और रीतिकालीन नायिकाओं का आधुनिक संस्करण भी। वह मनुष्य है पर उसकी मनुष्यता का कोई भी मूल्य नहीं, उसे बुद्धि का वरदान प्राप्त है पर उसका किसी के भी निकट उपयोग नहीं, उसके पास अमूल्य हृदय है पर उसके वात्सल्य सहानुभूति जैसे भावों के लिए भी कहीं अवकाश नहीं, आदि प्रश्न सिद्धान्तवाद के भीतर उठ सकते हैं। पर भावभूमि पर कवि की दृष्टि उसके बाह्य सौन्दर्य में ही केन्द्रित रहती है। यदि उसे विषाद होता है तो यह विचार कर कि दरिद्रता इस सौन्दर्य को असमय मलिन और जर्जरित कर देगी।

यदि किसी प्रकार दरिद्रता का अभिशाप दूर कर दिया जाय तो यह मानवी मेड़ों पर कटि लचकाती हुई घूमने के अतिरिक्त और किसी दिशा में उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी शङ्का ही दर्शक के हृदय में नहीं उठती। उठे भी क्यों? क्या सौन्दर्य को सुरक्षित रखना, अपने भीतर, देखनेवाले के नित्य अनुरञ्जन का लक्ष्य नहीं छिपाये हुए है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी सौन्दर्य-दृष्टि ने ग्रामीण नारी के जीवन का महत्त्व न प्रकट कर नागरिक सौन्दर्य-पिपासा के लिए एक नया निर्झर खोज निकाला है।

छायायुग के सूक्ष्म सौन्दर्य में जिन्हें उत्तेजक स्थूल को खोजने का अवकाश नहीं मिल सका वे यथार्थ के सम्बन्ध में सौन्दर्य-दृष्टि नहीं रखते। प्रत्युत जीवन के ऐसे विकृत चित्र उनका लक्ष्य रहते हैं जो उनकी अस्वस्थ प्रवृत्तियों को उत्तेजित रख सकें। इन नग्न वासना-चित्रों को वे ऐसे

अस्वस्थ उन्माद के साथ आँकते हैं कि करुणा, समवेदना जैसे गम्भीर भावों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। जिन विकृतियों में नारी के अपमान का ब्योरा है उनमें तटस्थता और व्यापक सामञ्जस्य-भावना के अभाव में नारी के जीवन का कोई महत्त्व प्रकट नहीं हो पाता और इस प्रकार वे चित्र अश्लील हो जाते हैं। केवल अपमान के ब्योरे जब विशेष रसमग्नता के साथ दिये जाते हैं तब वे अपमान की क्रूरता व्यक्त करने में भी असमर्थ रहते हैं और अपमान सहनेवाले का महत्त्व स्थापित करने की शक्ति भी खो देते हैं।

यदि कोई विशेष रस ले-लेकर कहे कि अमुक व्यक्ति को एक ने गाली दी, दूसरे ने पीटा, तीसरे ने गर्दन पकड़कर निकाल दिया तो यह अपमान-शृङ्खला, अपमान-योग्य व्यक्ति के उचित दण्ड का लेखा-जोखा बनकर उपस्थित होगी। व्यक्ति की निर्दोषिता या विशेष महत्त्व के ज्ञान से उत्पन्न व्यथा या सामान्य मानवता प्रकट करनेवाली तटस्थता के अभाव में ऐसे ब्योरे, न अपमानित व्यक्ति का सामाजिक महत्त्व प्रकट कर सकते हैं न उसकी व्यक्तिगत विशेषता का पता दे सकते हैं।

यह विकृतियों के अथक अन्वेषक, निर्धारित मूल्यों के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही हैं, अतः नूतन निर्माण के लिए आवश्यक क्रान्तिकारी भी हैं, यह धारणा भ्रान्त है। प्रत्येक जीवन-व्यवसायिनी नारी, प्रत्येक मद्यप, प्रत्येक दुश्चरित्र आदि निश्चित मूल्यों के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही हैं। पर यह सब क्रान्तिकारी नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि इनका लक्ष्य आत्महत्या है नव निर्माण नहीं। क्रान्ति

स्वयं एक साधना है, अतः उसका साधक जीवन को नये मूल्य और समाज को नया रूप देने के लिए अपने आपको अधिक से अधिक पूर्ण, स्वस्थ और सशक्त बनाने का प्रयत्न करता है, नष्ट करने का नहीं।

यदि यह कहा जाय कि हमारे सामाजिक जीवन के कठोर संयम ने सामूहिक रूप से एक अस्वस्थ मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी है तो इस कथन में सत्य का अंश संदिग्ध है। यदि यह मान लिया जाय कि ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थितिवाले लेखक लिखते-लिखते प्रगतिशीलता तक जा पहुँचेंगे तो यह अनुमान प्रमाणहीन है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में पुरुष संयम के अभाव से पीड़ित हैं संयम से नहीं, अतः असंयम से उनका उपचार करना वैसा ही है जैसे अत्यधिक भोजन से उत्पन्न उदरशूल में रोगी को मिष्टान्न खिलाकर स्वस्थ करने का प्रयास।

ऐसी स्थिति में यथार्थ-चित्रों में संस्कार की आवश्यकता है, विकार की नहीं, अन्यथा वे विकृतियों में ध्यान को एकान्त रूप से केन्द्रित कर देंगे। अस्वस्थ साहित्य का सृजन करते-करते ही यथार्थवादी प्रगति के चरम-लक्ष्य तक पहुँच जायँगे, इसे मान लेना यह विश्वास कर लेना है कि एक की ओर चलनेवाला चलते-चलते दूसरी ओर पहुँच जायगा। हमारा सामाजिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, पर नवीन निर्माण के लिए तो स्वस्थ प्रवृत्तियाँ, संस्कृत हृदय और परिष्कृत बुद्धि चाहिए। जो विकृतियों से प्रभावित हैं, पर आत्म-संस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिए उठा रखते हैं वे पथ-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त न हो सकेंगे।

हमारे साथ विकलाङ्ग भी हो सकते हैं और व्याधिग्रस्त भी, पर निर्माण के लिए हमें पूर्णाङ्ग और सबल व्यक्ति चाहिए। जब निर्माण हो चुके तब हम विकलाङ्गों और पीड़ितों को संरक्षण भी दे सकते हैं और उन्हें स्वस्थ बनाने के साधन भी एकत्र कर सकते हैं। किन्तु कुछ बनाने का कार्य आरम्भ करने के पहले यदि हम उन्हें अपने आगे खड़ा कर लेते हैं तो अपनी असमर्थता के विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ नहीं करेंगे।

लेखक का ध्यान यदि विकृतियों में केन्द्रित हो गया तो इसका कारण उसकी मानसिक अस्वस्थता है जिसे वह सिद्धान्तवाद में छिपाना चाहता है। पत्र यदि उत्तेजना-वर्धक रचनाओं को प्रश्रय देते हैं तो इसके पीछे उनका व्यावसायिक लाभ है जिसकी रक्षा के लिए वे सिद्धान्त-वाद को ढाल बना लेते हैं।

पर इन दोनों की अपेक्षा संख्या में अधिक और लाभ की दृष्टि से कुछ तटस्थ एक तीसरा भी पक्ष है जिसे इस सिद्धान्तवाद के आवरण में आनेवाले कला, साहित्य आदि को जीवन की कसौटी पर परखना होगा। शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से भी नारी श्रमिक वर्ग के समान ही दलित, पीड़ित पर महत्त्वपूर्ण है। उसमें समष्टिगत चेतना का अभाव-सा है, पर व्यष्टिगत चेतना की दृष्टि से भी नारी ने इस प्रवृत्ति में अपमान का ही अनुभव किया है। उत्तर में आज का यथार्थवादी यह कहकर छुट्टी नहीं पा लेगा कि तुम्हें अपने सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं, हम तुम्हें जो देते हैं उसी में तुम्हारा परम कल्याण है, हमारा इसमें

कोई सङ्कीर्ण स्वार्थ नहीं। यह तर्क हमारे गौराङ्ग प्रभुओं के परिचित तर्क हैं जिनके द्वारा वे अपने स्वार्थ को परार्थ का नाम देकर हम पर लाद देते हैं। आज की नारी इस प्रकार कहनेवाले को घोर प्रतारक मानेगी।

नवीन यथार्थवादी कलाकार किस सीमा तक निम्नवर्ग से सम्पर्क रक्खे और उसके जीवन को कैसी काव्य-स्थिति दे यह भी समस्या है।

इस सम्बन्ध में हमारी दो भ्रान्त धारणाएँ बन चुकी हैं। एक यह कि श्रमजीवी वर्ग के जीवन के भीतर प्रवेश करते ही हमारी रचनाएँ प्रतिक्रियात्मक होने लगेंगी और दूसरी यह कि मज़दूर, कृषक आदि के विकृत चित्रों के अभाव में काव्य और साहित्य में प्रगतिशीलता की गन्ध भी नहीं रह जायगी।

इन भ्रान्तियों के कारण न तो निम्नवर्ग के सरल जीवन का महत्त्व प्रकट हो पाया और न मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना उनके जीवन तक पहुँच सकी।

हमारे कलाकार, साहित्यकार, उनका मूल्याङ्कन करनेवाले आलोचक, शिक्षक और शिक्षकों से संस्कार पानेवाले विद्यार्थी सभी मध्यवर्गीय हैं। इस दृष्टि से निर्माण के क्षेत्र में यह वर्ग बहुत साधन-सम्पन्न कहा जायगा।

पर उच्चवर्ग की निश्चिन्तता और निम्नवर्ग की सङ्घर्ष में ठहरने की शक्ति के अभाव में यह थोड़ी-सी सुविधा के लिए भी बहुत विषम समझौते करता रहता है।

हमारे जीवन की व्यवस्था उस मशीन की तरह है जिसमें बड़े से लेकर छोटा पुर्ज़ा तक मशीन चलाने के ही काम आता है। इस मशीन

में मध्यवर्गीय कील-काँटों का ही बाहुल्य है जो अपना स्थान छोड़ना नहीं चाहते, अतः मशीन को चलाते ही रहते हैं। जब तक वह अपने वातावरण से बाहर आकर संसार को देखने के लिए स्वतन्त्र नहीं तब तक अपने स्थान में जकड़े रहने के कारण अपने आपको देखने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं।

उदाहरण के लिए हम अपने विद्यार्थी और शिक्षकवर्ग को ले सकते हैं जो दूसरों से अधिक संस्कृत और स्वतन्त्र जान पड़ते हैं।

विद्यार्थी नितान्त अस्वाभाविक विदेशीय वातावरण में बहुत हल्के पर विविध संस्कार ग्रहण करता रहता है। उसकी असम्भव कल्पनाएँ, ऊँचे-ऊँचे सङ्कल्प, विविधता-भरे विचार आदि देखकर विश्वास होने लगता है कि वह नवयुग का सन्देशवाहक क्रान्तिकारी है।

पर छोटी से छोटी नौकरीरूपी अपवर्ग का आभास मिलते ही वह वेशभूषा से लेकर सिद्धान्त तक इस तरह उतार फेंकता है जैसे उनमें असाध्य रोग के कीटाणु भर गये हों। जिन्हें ऐसा अपवर्ग नहीं मिलता वे या तो निराशा और कटुता से चारों ओर के वातावरण को विषाक्त करके नरक की सृष्टि करते रहते हैं या आँख मूँद कर उच्छृङ्खल विकृतियों के चलचित्रों का काल्पनिक स्वर्ग रचते हैं।

आज जब जीवन का प्रत्येक क्षण शक्ति की परीक्षा चाहता है, प्रत्येक दिन निर्माण के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ जाता है तब भी उनके पास कोई लक्ष्य नहीं जिसे केन्द्र बनाकर उनकी कल्पना, स्वप्न, सङ्कल्प आदि स्वस्थ विकास पा सकें। उनके निकट, लेने योग्य केवल दासता है और देने के लिए विकृति मात्र। यह सत्य है कि जीवन की वर्तमान व्यवस्था

उन्हें सुख-सुविधा के साधन नहीं देती पर दलितों और पीड़ितों के कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़े होने से कौन रोकता है! पर न वे अपने जीने का महत्त्व जानते हैं, न मृत्यु की पीड़ा पहचानते हैं।

कला और साहित्य को वे अपने मरु जैसे जीवन में निरुद्देश भ्रमण का सङ्गी बनाकर रखना चाहते हैं। इस प्रकार कलाकार और साहित्यकार की स्थिति उस अभिनेता के समान हो जाती है जो कुछ और बनने के लिए अपना व्यक्तित्व रखता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दूसरों की भूमिका को अपने व्यक्तित्व से अधिक महत्त्व देता है।

जिस प्रकार चरम सफलता तक पहुँचकर अभिनेता अपने परिचय को और चरम निष्फलता में जीविका के साधन को खो देता है उसी प्रकार आज के कलाकार के एक ओर, अपने आपको खोना और दूसरी ओर जीवन के साधन खो देने का प्रश्न रहता है।

बुद्धिजीवियों में सबसे श्रेष्ठ शिक्षक-वर्ग की अपनी अलग ही वर्णव्यवस्था है जिसका आधार विद्या-व्यवसाय न होकर धन का लाभ रहता है। जीवन की आवश्यक सुविधाएँ भी न पा सकनेवाला स्वभाषा-पण्डित अछूत की कोटि में रक्खा जा सकता है और, आवश्यकता से अधिक सुविधा-सम्पन्न विश्वविद्यालय का पर-भाषा-प्रोफ़ेसर ब्रह्मतेज से युक्त ब्राह्मण का स्मरण दिलाता है। इन दोनों विषम वर्णों के बीच में एक ढुलमुल स्थिति रखनेवाले शिक्षक कभी एक की अवज्ञा, कभी दूसरे से ईर्ष्या का व्यवसाय करके अथवा वेतन-वृद्धि के सङ्घर्ष में विजयी या पराजित होकर जीते रहते हैं। ये विद्या-व्यवसायी या तो इतने निश्चिन्त हैं

या इतने सङ्घर्षलीन कि उन्हें अपने कर्तव्य की गुरुता पर विचारकर अपनी स्थिति से विद्रोह करने का अवकाश नहीं मिलता। परिणाम प्रत्यक्ष है।

जैसे हर टकसाल में एक प्रकार के सिक्के ढलते रहते हैं उसी प्रकार हमारे शिक्षा-गृहों से एक ही प्रकार के लक्ष्यहीन, हताश पर कल्पनाजीवी विद्यार्थी निकलते रहते हैं। अवश्य ही इसका उत्तरदायित्व सम्पूर्ण व्यवस्था पर रहेगा, पर आज अन्य क्षेत्रों से अधिक तटस्थ और सम्मानित क्षेत्र में कार्य करनेवाले यदि अपनी व्यावसायिक बुद्धि और सङ्कीर्ण दृष्टिकोण को बदल सकते तो एक नई पीढ़ी के भविष्य की रेखाएँ स्पष्ट और उज्ज्वल हो उठतीं।

हमारे शिक्षक-वर्ग को राजनीति से शासकों ने मुक्ति दे दी है और सामाजिक समस्या से उसने स्वयं मुक्ति ले ली है, अतः अपनी सीमा के भीतर ही वह सब कुछ पा लेता है और इस काल्पनिक सन्तोष को बनाये रखने के लिए वह किसी बाहर की समस्या को अपने सीमित संसार में घुसने ही नहीं देता।

इसी कारण हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और सांस्कृतिक पुन-र्जागरण के विस्तार में उसका विशेष महत्त्वपूर्ण सहयोग नहीं।

साहित्य, कला आदि की दृष्टि से इस वर्ग की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। अन्य स्वतन्त्र देशों में एक व्यक्ति जिस विषय का विद्वान् होता है उसी से आजीविका की सुविधा पाता है और उसी दिशा में नूतन निर्माण करता है। हमारे पराधीन जीवन में विदेशी भाषा का विशेष ज्ञान ही योग्यता का मापदण्ड है और उसी विषय का अध्ययन-अध्यापन

अधिक अर्थ-लाभ का सुलभ साधन बन जाता है। पर उसमें कोई नया सृजन करके व्यक्ति विदेश में विशेष महत्त्व पाने का अधिकारी नहीं बन पाता और अपनी भाषा में कुछ करके वह स्वदेश में बहुत साधारण ही माना जाता है। यह कठोर सत्य अनेक विद्वानों के जीवन में परीक्षित हो चुका है, अतः साधारण व्यक्ति तो किसी दिशा में भी कुछ करने की प्रेरणा नहीं पाता।

आज की परिस्थितियों में भविष्य का जो संकेत मिलता है, उससे प्रकट हो रहा है कि स्थिति बदलते ही अपनी भाषा और साहित्य का महत्त्व बढ़ जायगा। ऐसी स्थिति में अपनी भाषा और साहित्य-प्रेम के कारण असुविधाएँ सहनेवाले ही नहीं, विदेशीय साहित्य के अध्यापन-द्वारा सब प्रकार की सुविधाएँ पानेवाले शिक्षक भी, इस ओर देखने की आवश्यकता समझते हैं। इस प्रवृत्ति ने नई विचार-धाराओं के साथ-साथ नई समस्याएँ भी दी हैं।

नवीन साहित्यिक प्रगति में इस वर्ग का सहयोग शुभ लक्षण है, पर इससे शुद्ध साहित्यकार और कलाकार की कठिनाई घटने के स्थान में बढ़ ही रही है। इसके कारण हैं। अब तक दूसरी दिशा में चलने-वाले व्यक्ति भी स्वार्जित ज्ञान के कारण अपने साहित्य के क्षेत्र में जिज्ञासु बनकर आने में अपमान का अनुभव करते हैं। इस प्रकार उन्हें कुछ नवीन देने का संकल्प और उसकी घोषणा करके आना पड़ता है।

पर देने के दो ही साधन हैं या तो उत्कृष्ट सृजन के लिए प्रतिभा या प्रतिभाओं के मूल्याङ्कन की शक्ति। कहना व्यर्थ है कि पहला

सबके लिए सम्भव नहीं पर दूसरा प्रयत्न-साध्य है। पर प्रयत्न-साध्य साधन भी देश-जातिगत विशेषता, सांस्कृतिक चेतना, साहित्य-कला आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है जिसके लिए नवीन आलोचक के पास अवकाश नहीं। परिणामतः इनके द्वारा जो मूल्याङ्कन होता है और उस मूल्याङ्कन की व्याख्या के लिए जो सृजन होता है वह हमारे सांस्कृतिक प्रश्न की उपेक्षा कर जाता है और इस प्रकार हमें अपने साहित्य, कला आदि की महत्ता नापने के लिए अन्य देश के मापदण्ड ही स्वीकार करने पड़ते हैं।

इस सम्बन्ध में एक समस्या और उत्पन्न हो जाती है। तर्क-प्रधान ज्ञान तो बिना अपनी विशेषता खोये हुए स्थानान्तरित किया जा सकता है, पर भाव-प्रधान काव्य, कला आदि अपनी धरती से इस प्रकार बँधे रहते हैं कि उनका एक वातावरण से दूसरे में सञ्चरण, मानव की सम्पूर्ण संवेदनीयता चाहता है।

एक जाति के विज्ञान, दर्शन आदि सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध न रखकर जीवन के मूलभूत तत्त्वों से सम्बन्ध रखते हैं और उनका लक्ष्य मानव की चेतना में ज्ञान की वृद्धि करना है। परिणामतः केवल चेतना की दृष्टि से उनका ग्रहण कहीं भी सहज हो सकेगा। इसके विपरीत काव्य, कला आदि सम्पूर्ण जीवन के माध्यम से जीवन के मूलतत्त्वों की अनुभूति देते हैं और उनका उद्देश्य विविधता में एकता की भावना जगाकर मनुष्य को आनन्द देना है। अतः किसी जाति के जीवन और उसके वातावरण के परिचय के बिना काव्य, कला आदि का ग्रहण कठिन हो जाता है।

तर्क विशेष है, क्योंकि बुद्धि की असंख्य ऊँची-नीची श्रेणियाँ हैं। पर बुद्धि के एक स्तर पर खड़े हुए दो व्यक्ति एक दूसरे के जीवन से अपरिचित रहते हुए भी ज्ञान का आदान-प्रदान कर सकेंगे। भाव में सामान्यता रहती है, पर यह सामान्यता बाहर से इतनी विविध है कि साथ-साथ चलनेवाले यात्री भी एक दूसरे के जीवन की परिस्थितियों को जाने बिना एक दूसरे के सुख-दु:खों से तादात्म्य न कर सकेंगे।

संसार के एक कोने का वैज्ञानिक दूसरे कोने के वैज्ञानिक की खोज के परिणाम को जिस तटस्थता से ग्रहण करता है, एक देश का दार्शनिक दूसरे दूर-देशीय दार्शनिक के तर्क की सूक्ष्मता को जिस निर्विकारता से स्वीकार करता है उस तटस्थता और निर्विकारता से एक देश का कलाकार दूसरे देश के सङ्गीत, चित्र, काव्य आदि को नहीं ग्रहण करेगा, क्योंकि वह तो भाव को स्थायी रसत्व के रूप में अपनी आत्मा का सत्य बना लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में जब तक अन्यदेशीय कलाएँ जीवन की समस्त विविधता और उसमें व्यक्त सामञ्जस्यमूला एकता लेकर नहीं उपस्थित होतीं तब तक वे उसके निकट किसी अपरिचित का इतिवृत्त-मात्र रहती हैं।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में यह कठिनाई और बढ़ जाती है, क्योंकि यह सामान्य विविधता ही नहीं, विशेष इतिवृत्त के माध्यम से संवेदनीयता चाहता है। आदर्श उस आलोक के समान प्रसारगामी है जो विविधता का रूप ग्रहण करके भी उससे ऊपर एक व्यापक सूक्ष्म स्थिति रखता है। पर यथार्थवाद उस जल-प्रवाह के समान रहेगा जो अनन्त आकाश के

नीचे ठहरने के लिए कठोर सम-विषम धरती और तटों की सीमा लेकर ही गतिशील हो सकता है।

कुछ नवीन देने के प्रयास में नवीन आलोचक ने बहुत कुछ ऐसा दे डाला है जो हमारी सामूहिक हीन भावना में पनप कर फैलता जाता है।

कोई गोर्की की भूमिका में है, कोई तुर्गनेव के जामे में, कोई किसी अन्य कलाकार का रूप भर रहा है। इस तरह दूसरों के आच्छादन में कभी साँस रोककर सिकुड़े हुए और कभी निःश्वास फेंककर स्फीतकाय होनेवाले लेखक का दम घुटने लगे तो आश्चर्य नहीं। भारतीय बना रहना हमारे कलाकार का पर्याप्त परिचय क्यों नहीं हो सकता, यह प्रश्न भी सङ्कीर्ण राष्ट्रीयता की परिधि में आ जाता है। अतः कुछ इस प्रवृत्ति ने और कुछ अपने जीवन को देखने की अनिच्छा ने आज के यथार्थवाद को प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता से छुटकारा दे दिया है। जिनके निकट रूस अब तक दुर्लभदर्शन है वे उसके चित्र-गीत लिख सकते हैं, जिनकी कल्पना में भी चीन प्रत्यक्ष नहीं, वे उसकी दृश्य-कथाएँ लिखने के अधिकारी हैं, पर जो देश उनके नेत्रों की नीलिमा में प्रत्यक्ष है, उनके स्पन्दन में बोलता है, उसके यथार्थ का प्रश्न उनसे सुलझ नहीं पाता।

सुलझानेवाले दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो तीस दिन के उपरान्त निश्चित धन पाकर जीवन की असुविधाओं से मुक्ति पा लेते हैं और शेष उन्तीस दिनों में कला के मूल्याङ्कन, कलाकार के पथ-प्रदर्शन और उपाधि-वितरण-द्वारा मनोविनोद का अवकाश निकाल लेते हैं और दूसरे वे जिन्हें पाठकों को विविध माँगों का भार लादकर तथा आलोचकों के

उलझे सुलझे आदेशों के बीच में दब-पिसकर तीस दिन में प्रतिदिन दूसरा सबेरा देखने के लिए संघर्ष करते हुए अमर कलाकार की भूमिका निबाहनी पड़ती है। आश्चर्य नहीं कि गन्तव्य खोजने में यह अपने आपको खो देते हैं।

मज़दूर और श्रमिक के विकृत चित्र ही यथार्थ हैं या नहीं, कला के नाम पर निम्नवर्ग को यही दिया जायगा या कुछ और भी आदि समस्याएँ तब तक नहीं सुलझ सकतीं जब तक कलाकार अपनी स्थिति का विरोधाभास नहीं समझता। वह अपने आपको श्रमजीवी कहता है और बुद्धि के अभिचार से जीता है, वह अमरता का मुकुट पहने है और तिल-तिल कर मारा जाता है, वह नूतन निर्माण चाहता है और उस मध्यवर्ग का सफल प्रतिनिधि है जिसका परिचय मार्क्स के शब्दों में—('Lacking faith in themselves, lacking faith in the people, grumbling at those above and trembling in face of those below') आत्मविश्वास से रहित, जनता के प्रति अविश्वासी, अपने से उच्च के प्रति भुनभुनानेवाला और अपने से निम्नवर्ग के सामने काँप उठनेवाला है।

नूतन निर्माण के लिए नवीन कलाकार को जीवन के कोने-कोने से खोजकर सब अमूल्य उपकरण एकत्र करने होंगे, अतः साधारण जीवन का सम्पर्क उसकी पहली आवश्यकता है।

निम्नवर्ग को कला के नाम पर क्या देना होगा इसका उत्तर यदि वह अपनी जन्मदात्री धरती से नहीं चाहता तो अपने विचारों की धात्री

रूसी भूमि से भी पा सकता है। तात्कालिक समस्याएँ महत्त्व रखती हैं, पर उनका महत्त्व भी कला और साहित्य की मूल प्रेरणा में तत्त्वतः परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी से क्रान्ति के ध्वंस और रक्तपात के ऊपर उठकर क्रान्तिस्रष्टा लेनिन का स्वर गूँज उठता है—

"Many people are honestly convinced that the difficulties and danger of the moment can be overcome by 'bread and cheese.' Bread-certainly ! circuses-allright ! But we must not forget that the circus is not a great true art." Our workers and peasants truly deserve more than circuses. They have a right to true great art ...So that art may come to the people and the people to art we must first of all raise the general level of education and culture."

(अनेक व्यक्ति सच्चे मन से विश्वास करते हैं कि इस क्षण की सब कठिनाइयाँ और खतरे 'रोटी और पनीर' से दूर किये जा सकते हैं। रोटी आवश्यक रहेगी—सर्कस भी ठीक है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सर्कस कोई महत् और सच्ची कला नहीं।...हमारे श्रमजीवी और कृषक सर्कस से अधिक पाने के योग्य हैं। वे सत्य और महान् कला के अधिकारी हैं।......कला को जनता तक पहुँचाने और जनता को कला के निकट लाने के लिए हमें सबसे पहले शिक्षा और संस्कृति का धरातल ऊँचा उठाना चाहिए।)

इसी सन्तुलित दृष्टि का अनुसरण करके रूसी जनता आज इस सत्य तक पहुँच सकी है–('To live without work is robbery

to work without art is barbarism') बिना श्रम के जीना चोरी है और बिना कला के श्रम बर्बरता।

नवीन कलाकार यदि दृष्टि का सन्तुलन न खोये तो वह भी इसी सत्य को प्रत्यक्ष देखेगा और तब मज़दूर-कला और राज-कला के विवादों के स्थान में एक ही महान् और सत्य कला की प्राप्ति स्वाभाविक हो जायगी।

जो कला के क्षेत्र में विशेष कुछ दे नहीं सकते वे यदि द्वार द्वार अलख जगाकर प्रत्येक व्यक्ति में सांस्कृतिक चेतना और कला-प्रेम जगाने का कर्तव्य स्वीकार करें तो हमारे जीवन के अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाय। हमारे श्रमजीवी और कृषक की सांस्कृतिक चेतना अब तक जीवित है, अतः हमारा कार्य दूसरे देशों से सरल सिद्ध होगा।

इस युग के कवि के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं उन पर मैं रंग फेरना नहीं चाहती। आज संगठित जाति वीरगाथाकालीन युद्ध के लिए नहीं सज्जित हो रही है जो कवि चारणों के समान कड़खों से उसे उत्तेजित-मात्र करके सफल हो सके, वह ऐश्वर्यराशि पर बैठी पराजय भुलाने के साधन नहीं ढूँढ रही है जो कवि विलास की मदिरा ढाल-ढालकर अपने आपको भूल सके और वह कठोर संघर्ष से क्षामकण्ठ भी नहीं है जो कवि-अध्यात्म की सुधा से उसकी प्यास बुझा सके।

वास्तव में वह तो जीवन और चेतना के ऐसे विषम खण्डों में फूटकर बिखर गई है जो सामञ्जस्य को जन्म देने में असमर्थ और परस्पर विरोधी उपकरणों से बने जान पड़ते हैं। इसका कारण कुछ तो हमारा व्यक्ति-

ऐसी क्रान्ति के अवसर पर सच्चे कलाकार पर—'पीर बवर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ हो जाती है—उसे स्वप्नद्रष्टा भी होना है, जीवन की क्षुत्क्षाम निम्नस्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृषित मानवता को संवेदना का जल भी देना है और सबके अज्ञान का भार भी सहना है।

उसी के हृदय के तार इतने खिंचे-सधे होते हैं कि हल्की सी साँस से भी झंकृत हो सकें, उसी के जीवन में इतनी विशालता सम्भव है कि उसमें सबके वर्गभेद एक होकर समा सकें और उसी की भावना का अञ्चल इतना अछोर बन सकता है कि सबके आँसू और हँसी सञ्चित कर सके। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिए संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा, क्योंकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।

युग-युगान्तर से कवि जीवन के जिस कलात्मक रूप की भावना करता आ रहा है आज उसे यदि मानवता के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाना है तो उसका कार्य उस युग से सहस्रगुण कठिन है जब वह इस भावना को कुछ भावप्रवण मानवों को सहज ही सौंप सकता था। वह सौन्दर्य और भावना की विराट् विविधता से भरे कलाभवन को जलाकर अपने पथ को सहज और कार्य को सरल कर सकता है, क्योंकि तब उसे जीवन को निम्नस्तर पर केवल ग्रहण कर लेना होगा, उसे नई दिशा में ले जाना नहीं; परन्तु यह उसके अन्याय का कोई प्रतिकार नहीं है।